पंचपरमेष्ठी

संकलन कर्ता
अनिल जैन
प्रकाश परिवार

प्रकाशक
प्रकाश शोध संस्थान
प्रकाश हाउस
4, दरियागज, नई दिल्ली – 110002

।। सबका अमंगल दूर हो ।।

संकलन कर्ता : **अनिल जैन**
प्रकाश परिवार
4, दरियागज, नई दिल्ली–110002

प्रदाता : **राजधानी पेपर डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा॰लि॰**
938, प्रथम मजिल, छत्ता शाहजी,
चावडी बाजार, दिल्ली–110006
दूरभाष 23265845, 23275845

प्रकाशक : **प्रकाश शोध संस्थान**
प्रकाश हाऊस
4, दरियागंज, नई दिल्ली–110002
दूरभाष 23260300, 23254948

प्रथम संस्करण : अप्रैल, 2003
द्वितीय संस्करण : 2005

जैन सिरीज : पुष्प 2

टाईपोग्राफी : संजीव वर्मा
जे–79, पाडव नगर, दिल्ली–110092

संयोजक : **अशोक सचदेवा**
बुक पैलेस, गोला कॉटेज,
12, बी दरियागज, नई दिल्ली – 110002

मूल्य : स्वाध्याय

संपादकीय 

परमपूजनीय विश्व संत शिरोमणि
दिगम्बर जैन आचार्यरत्न श्री विद्यासागराय नमः।

जैन धर्म व्यक्ति विशेष से सबधित न होकर गुणों पर आधारित है। आत्मा के गुणो के विकास के अनुसार ही जीवात्मा को श्रेणीबद्ध किया गया है । णमोकार मत्र मे भी गुण आधारित पचपरमेष्ठी को स्मरण करके नमस्कार किया गया है । पंचपरमेष्ठी के गुणो एव उनके परिचय के उद्देश्य से प्रस्तुत पुस्तक ज्ञानवर्धन में हमे सम्पूर्ण सहयोगी होगी, ऐसी मेरी कामना है ।

प्रस्तुत पुस्तक का सकलन क्षु० सन्मतिसागर जी की नवनीत नामक पुस्तक से किया गया है। एवं वर्तमान चौबीसी स्तुति आचार्य श्री विद्यासागर जी द्वारा रचित "स्तुति शतक" जो कि स्तुति सौरभ पुस्तक से सकलित किया है। दोनो ही पुस्तके बहुत ही सरल सुगम एव जिज्ञासुओं का ज्ञानवर्द्धन एव आस्तिकता का सद्भाव जाग्रत् कर धर्ममार्ग पर आरूढ व्यक्ति को कर्तव्यबोध कराती है। जिनवाणी के प्रसार हेतु ही यह पुस्तक आपके करकमलो मे अर्पित है। किसी त्रुटि के प्रति मुझ अल्पज्ञ को माँ शारदा क्षमा प्रदान करें ।

साधु परमेष्ठी श्री अजितसागर जी मुनिराज का प्रयास एव प्रेरणा से ही उक्त कार्य सम्पन्न हो सका, हम उनके प्रति आभारी है एव उनके इस प्रकार के प्रेरक कार्य के प्रति नमन करते है ।

अनिल जैन
प्रकाश परिवार
4, दरियागज,
नई दिल्ली – 110002

द्वितीय सस्करण के विषय मे

पचमरमेष्ठी की आराधना विषयकषायो से बचने के लिए होती है।

आचार्य परमेष्ठी
श्री विद्यासागर जी
(जिन भाषित, 26 मई, 2003)

हम कृतज्ञ है आदरणीय श्री नीरज जी, सतना के जिन्होने अपना अमूल्य समय निकालकर प्रथम सस्करण मे रही त्रुटियों के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट कर मार्गदर्शन किया। हम उनकी इस अनुकम्पा के प्रति सदैव आभारी रहेगे एव उनका मार्गदर्शन हमे भविष्य मे भी मिलता रहेगा, इसी भावना के साथ श्री नीरज जी के प्रति पुनः अपनी कृतज्ञता प्रदान करते है।

हम आभारी है उन सभी प्रशंसको के जिन्होंने पुस्तक मे दिये गये विषयो को सराहा। प्रथम सस्करण मात्र तीन महीने की अल्पावधि मे ही समाप्त हो गया। सभी त्रुटियो को पूरा करने मे भाई श्री राजेन्द्र प्रताप सिह जी मीत नगर (यमुना विहार) दिल्ली ने अपना सहयोग हमें दिया। ये उन्ही का प्रयास है जो यह कृति और सुविस्थित एव प्रगाढ रूप सॅवर कर आपके कर–कमलो मे प्रस्तुत है। हम उनके इस कार्य के प्रति कृतज्ञ रहेगे एव भविष्य मे इसी प्रकार का सहयोग उनसे मिलता रहेगा। हम सभी प्रशसको एव सहयोगकर्ताओ का पुन धन्यवाद करते है।

अनिल जैन
4, दरियागज, दिल्ली

दो शब्द

परम पद मे स्थिति पचपरमेष्ठी की आराधना ही व्यक्ति भव–भव की भटकन को विनष्ट करने वाली है। ऐसे परम आराध्य की आराधना पाप कर्मो की विराधित करने वाली है। इसलिये पच परम आराध्यों की सदा आराधना भव्य पुरुष सदा करते है और अपनी कल्याण की भावना भी करता रहता है।

पचपरमेष्ठी की भक्ति करने से पूर्व पचपरमेष्ठी के स्वरूप को समझना अनिवार्य है। उनके स्वरूप का परिचय कराने वाला यह पचपरमेष्ठी पुस्तक भाई अनिल जी ने सकलन किया है। जो बहुत अच्छी कृति है, सर्वोपयोगी है, जो पंचपरमेष्ठी के बारे मे जानना चाहते है उनको ज्ञान कराने के लिये यह कृति ज्ञान–दीप के समान है। अन्त में यही भावना करता हूँ कि कृति का सकलन करने वाले का पुरुषार्थ सदा स्वाध्याय ध्यान मे इसी तरह लगा रहे।

शुभाषीश !

विदिशा — मुनि अजितसागर

27–7–2005

मंगल–पाठ

णमो अरिहंताणं,
णमो सिद्धाणं
णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं
णमो लोए सव्व साहूणं।

चत्तारि मंगलं
अरिहन्ता मंगलं
सिद्धा मंगलं
साहू मंगलं
केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलम्।

चत्तारि लोगोत्तमा
अरिहन्ता लोगोत्तमा
सिद्धा लोगोत्तमा
साहू लोगोत्तमा
केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगोत्तमा।

चत्तारि सरणं पव्वज्जामि
अरहन्ते सरणं पव्वज्जामि
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि
साहू सरणं पव्वज्जामि
केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

एसो पंच णमोयारो, सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं होइ मंगलम्।।



श्री वीतरागाय नमः

मंगलाचरण

हो इष्ट में सफलता सबको दिलाते,
आशीष दो ऋषिवरा निज रूप ध्याते।
स्याद्वाद का जगत् में वर हो प्रचार,
औ ज्ञान ध्यान तप मार्ग चले सुचार।।

प्रश्न 1 : णमोकार मन्त्र किसे कहते हैं और इस मन्त्र की क्या महिमा है ?

उत्तर : जिस मन्त्र मे पच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है उसे णमोकार मन्त्र कहते है। इस मत्र मे 5 पद, 35 अक्षर एव 58 मात्राएँ हैं। णमोकार मन्त्र जैनधर्म का अनादि सर्वोच्च मगल–मन्त्र है। णमोकार मन्त्र का शुद्ध रूप इस प्रकार है–

णमो अरिहन्ताणं – अरहन्तों को नमस्कार हो,
णमो सिद्धाणं – सिद्धों को नमस्कार हो ,
णमो आइरियाणं – आचार्यों को नमस्कार हो,
णमो उवज्झायाणं – उपाध्यायों को नमस्कार हो,
णमो लोए सव्वसाहूण लोकवर्ती सर्व साधुओ को नमस्कार हो।

एसो पंच णमोयारो,सव्व–पावप्पणासणो।
मगलाणं च सव्वेसिं, पढमं होइ मंगलं।।

'यह पच नमस्कार मन्त्र सब पापो का विनाश करने वाला है और समस्त मगलो मे प्रथम मगल है'।

विशेष :

इस मन्त्र मे प्रयुक्त प्रथम पद 'अरहन्त' है, इसके तीन पाठ उपलब्ध होते हैं । ये है –'अरहन्त, अरिहन्त, अरूहन्त'। प्रथम शब्द अरहन्त का अर्थ होता है 'अतिशय पूज्य'। तीर्थकर भगवान के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान एवं निर्वाण इन पाँच कल्याणको के समय देवताओ द्वारा जो पूजा और प्रभावना की जाती है वह, तथा देव, असुर एवं मानवों द्वारा की जाने वाली पूजा के पात्र होने के कारण 'अरहन्त' कहे जाते हैं।

दूसरा पाठ अरिहन्त है। अरि अर्थात् शत्रु एव उसके हन्त अर्थात् नाश करने से 'अरिहन्त' संज्ञा प्राप्त होती है। अरि का अर्थ होता है 'अष्ट कर्मों का राजा मोह'। नरक, तिर्यच, मनुष्य एव देव–इन पर्यायों में जन्म लेने का एव उससे उत्पन्न होने दु:ख का मूल कारण मोह है, अत: मोह को अरि अर्थात् शत्रु कहा गया है।

यह मोह कर्म सभी कर्मो मे राजा है। इसके नष्ट हो जाने पर अन्य शेष कर्मों मे जन्म–मरण की परम्परा रूप ससार उत्पादन की शक्ति नही पायी जाती है तथा मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण, एव अन्तराय इन तीन घातिया कर्मों का एक साथ नाश हो जाता है। अत मोहनीय कर्म को ही 'अरि' कहा गया है।

तृतीय पाठ अरूहन्त है। अरू का अर्थ होता है 'जन्म'। अत: रागद्वेष रूपी शत्रुओ का नाश हो जाने से दग्ध– बीजवत् जिनकी भव जन्म–सन्तति अर्थात् पुनर्जन्म समाप्त हो गया है, उन्हे 'अरूहन्त' कहते है।

इस मन्त्र मे प्रयुक्त "लोए" और "सव्व" अन्त्य दीपक है। अर्थात् अर्थ ग्रहण करते समय ये दोनो शब्द प्रत्येक पद के प्रारंभ मे जोड दिये जाते है। अत णमोकार मन्त्र मे लोए के समस्त त्रिकालवर्ती अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एव साधुओ को नमस्कार किया गया है।

यह पच नमस्कार मन्त्र ध्यान सिद्धि का कारण है। अत कहा भी है–

पणतीस सोल छप्पण चदु दुगमेगं च जवह झाएह।
परमेट्ठि वाचयाणं अण्णं च गुरुवएसेण।।[1]

यह परमेष्ठी वाचक मन्त्र 35 अक्षर है।

यह मन्त्र 16,6,5,4,2, एवं 1 अक्षर के मन्त्रो मे परिवर्तन किया जा सकता है। 35 अक्षरो का पूर्ण मन्त्र लिखा जा चुका है। सोलह अक्षर के मन्त्र मे परिवर्तित करने पर इसका निम्न रूप होगा–अरहन्त, सिद्ध आइरिया और उवज्झाया, साहु।

छह अक्षरो मे परिवर्तित करने पर उसके निम्नलिखित तीन रूप होंगे–

1–अरहन्त सिद्ध। (नामपद) अरहन्त–अरहन्त वाचक।

2– अरहन्त सि, सा। स–सिद्ध,सा–साघु (आचार्य, उपाध्याय साधु) वाचक।

3–नम सिद्धेभ्य.।

पाच अक्षरो के मन्त्र मे बदलने पर इसका निम्न रूप होगा–

अ सि आ उ सा (प्रत्येक पद का प्रथम अक्षर)

चार अक्षरो के मन्त्र मे बदलने पर इसके निम्नलिखित दो होगे–

1–अरहन्त। (नामपद)

2–अ, सि, साहू। अ–अरहन्त, सि–सिद्ध, साहू–(साधु) आचार्य, उपाध्याय साधु।

दो अक्षरो के मन्त्र मे बदलने पर इसके निम्न तीन रूप होगे–

1–सिद्ध। (नामपद) 2–अ ॐ 3–ॐ ह्री।

एक अक्षर के मन्त्र मे बदलने पर इसके दो रूप होंगे–

अ और ॐ

ॐ शब्द की सिद्धि–

अरहन्ता असरीरा आयरिया तह उवज्झया मुणिणो।
पढमक्खरणिप्पण्णो ओकारो पचपरमेष्ठी।।

---

1 द्रव्य सग्रह - गा 49

अरहन्त का आदि अक्षर अ+अशरीर (सिद्ध) का प्रथम अक्षर अ अतः अ + अ – (दीर्घ सन्धि)

आ + आ (आचार्य का आदि अक्षर) = आ (दीर्घ सन्धि)

आ + उ (उपाध्याय का आदि अक्षर) = औ (गुण सन्धि)

ओ + म (मुनि का आदि अक्षर) = ओ३म्– ॐ।

प्रश्न 2 : परमेष्ठी किसे कहते हैं ?

उत्तर : धर्म स्थान मे जिनका पद महान् होता है, जो गुणो मे सर्वश्रेष्ठ होते है तथा चक्रवर्ती राजा इन्द्र एवं देव आदि भी जिनके चरणो की वन्दना करते हैं उन्हे "परमेष्ठी" कहते है। अथवा –

"परमे पदे तिष्ठति इति परमेष्ठी उच्यते" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो परम पद में स्थित हो उसे परमेष्ठी कहते है। यहॉ परम शब्द का अर्थ है "सर्वोच्च"। जो मानव–जीवन मे परम लक्ष्य पा चुके हैं वे, और जो उसे प्राप्त करने की साधना अवस्था मे गुजर रहे हैं वे भी एक जीवित प्रतीक के रूप में हमे इष्ट की प्राप्ति में सहायक हो सकते हैं। एक ससारी आत्मा किस तरह से अपनी आत्म–शक्ति के क्रमिक विकास द्वारा पूर्ण आत्मजयी बन जाता है–इसकी साकार मूर्ति **परमेष्ठों** मे मूर्तिमान हो उठती है, जिनके दर्शन से हमारे रोम–रोम मे भी साधना की लहर उठने लगती है और अपने परम इष्ट त्रिकाल अबाधित आत्म–सुख को प्राप्त करने की प्रेरणा जाग्रत् हो उठती है। परमेष्ठी का स्मरण मात्र साधना की राह में चलते हुए एकाकी साधक के अन्दर मील के पत्थर के समान प्रेरक उत्साह का संचार कर देता है। यही कारण है कि परमेष्ठी को जैन–दर्शन मे मानव–जीवन के परम इष्ट की प्राप्ति मे **सातिशय हेतु** स्वीकार किया गया है।

प्रश्न 3 : परमेष्ठी के नाम बताइए।

उत्तर : परमेष्ठी पॉच होते है, इन्हे पचपरमेष्ठी कहते है।

1–अरहन्त परमेष्ठी।

2—सिद्ध परमेष्ठी।

3—आचार्य परमेष्ठी।

4—उपाध्याय परमेष्ठी।

5—साधु परमेष्ठी।

ये पॉचो परमेष्ठी मगल—स्वरूप, लोकोत्तम, लोक मे शरण प्रदाता हैं एवं ध्यान—सिद्धि के मूल हेतु है।

प्रश्न 4 : अरिहन्त परमेष्ठी किन्हें कहते हैं?

उत्तर : जो चार घातिया कर्मों (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय) को नष्ट कर लोक—अलोक को प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त कर लेते है, समवशरण मे विराजमान होकर दिव्य ध्वनि के द्वारा सब जीवों को कल्याणकारी उपदेश देते है तथा देवेन्द्रो के द्वारा जिनकी पूजा की जाती है, वे 'अरहन्त' कहलाते है। ये अष्टादश दोषो से रहित, 46 मूल गुणो एव अनन्त उत्तर गुणो से सहित होते है। ये वीतराग, सर्वज्ञ एव 'हितोपदेशी' होते हैं। इन्हे जीवन्मुक्त भी कहा जाता है।

प्रश्न 5 : सिद्ध परमेष्ठी किन्हें कहते हैं?

उत्तर : जिन्होने सर्व सिद्धियॉ प्राप्त कर ली है उन्हे सिद्ध परमेष्ठी कहते है। अर्थात्— जो ज्ञानावरणादि समस्त कर्मों से मुक्त होकर ऊर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अग्रभाग मे (सिद्ध शिला पर) जाकर विराजमान हुए है, जिनके आत्मप्रदेश चरमशरीर से कुछ कम अवगाहना वाले पुरुषाकार—रूप में अवस्थित है, जो लोक व अलोक के मात्र ज्ञाता —द्रष्टा हैं, अष्ट मूलगुणो व अनन्तगुणों से शोभित है— वे सिद्ध परमेष्ठी कहलाते हैं।

प्रश्न 6 : आचार्य परमेष्ठी किन्हें कहते हैं?

उत्तर : जो सम्यक् दर्शन, ज्ञान एव चारित्र से मुक्त एव मुनि सघ के अधिपति है, जो पचाचारो का स्वय पालन करते हुए सघस्थ अन्य

मुनिराजो से भी पालन कराते हैं, तथा जो दीक्षा–शिक्षा एव प्रायश्चित्त आदि देते हुए भी स्वसमय (शुद्ध आत्मा) तथा परसमय के पूर्ण ज्ञाता है– उन्हे आचार्य परमेष्ठी कहते है। ये छत्तीस मूल गुणो से मण्डित होते है।

प्रश्न 7 : उपाध्याय परमेष्ठी किन्हें कहते हैं?

उत्तर : रत्नत्रय रूप धर्म मे जिनकी सतत् प्रवृत्ति हो रही है, जो अभीक्षण, ज्ञानोपयोगी, इन्द्रियजयी, द्रव्यश्रुत और भावश्रुष्त के पारगामी, एव तत्त्ववेत्ता है एव अन्य ज्ञान–पिपासु श्रमणो एव श्रावकों को सतत् ज्ञान दान देने मे तत्पर रहते है–उन्हे उपाध्याय परमेष्ठी कहते हैं। इनके 25 मूल गुण होते हैं।

प्रश्न 8 : साधु परमेष्ठी किन्हें कहते हैं?

उत्तर : (1) विषय कषाय से विमुक्त होकर, (2) जिन्होने पूर्ण संग (परिग्रह) का त्याग कर दिया है, (3) और जो सदैव ज्ञान–ध्यान–तप मे तल्लीन रहकर मोक्ष–मार्ग स्वरूप सम्यक् चारित्र का निर्दोष पालन करते है–उन्हे साधु परमेष्ठी कहते हैं। (4) ये 28 मूल गुणो से विभूषित होते है।

प्रश्न 9 : लोक में कितने मंगल हैं ?

उत्तर : लोक में चार मगल होते है–

1 अरहन्ता मगल	अरहन्त मंगल है।
2 सिद्धा मगल	सिद्ध मगल है।
3 साहू मगल	साहू मगल है।
4 केवली पण्णत्तो धम्मो मगल	केवली प्रणीत धर्म–मगल है।

इस पाठ मे चार प्रकार के मगलो मे अरहन्त भगवान् सर्वप्रथम मगल माने गये है। इसका यह कारण है कि अरहन्त भगवान के द्वारा साक्षात् मोक्ष–मार्ग रूप धर्म का प्रवर्तन होता है एव उन्ही के द्वारा यह

ज्ञान होता है कि सिद्ध भगवान् भी मगल स्वरूप हैं। अत. उन्हे अनुक्रम दूसरे स्थान पर रखा गया है। मगल रूप साधु को क्रम से अनुक्रम तीसरे पर रखा गया है। इसका कारण यह है कि यहॉ साधु मे आचार्य और उपाध्याय परमेष्ठी भी गर्भित है। वे भी रत्नत्रय रूप धर्म साधना मे साक्षात् मोक्षमार्ग का अनुगमन कर रहे हैं। एवं लोक मे अरहन्त की अपेक्षा सर्वकाल मे सुलभ रहते है। और अनुक्रम चार पर केवली भगवान् द्वारा प्रणीत धर्म को मंगल स्वरूप कहा गया है, क्योंकि वह हमेशा विद्यमान रहता है। यह क्रम एक विशेष तथ्य को भी प्रकट करता है कि अरहन्त, सिद्ध एव साधु रूप मंगल का किसी समय एवं स्थान–विशेष मे अभाव भी हो सकता है परन्तु धर्म अपनी उसी गरिमा से सदाकाल प्रवर्तमान रहता हुआ जीवो का कल्याण करता रहता है।

मगल शब्द की निरुक्ति दो प्रकार से की जा सकती है, पहली, (मगल) अर्थात् सुख को 'लाति' अर्थात् देता है, उसे 'मगल' कहते है। अथवा 'म' अर्थात् पाप उसे 'गालयति' अर्थात् गलाता है या समाप्त करता है –उसे मगल कहते है। अत मगल शब्द का शाब्दिक अर्थ हुआ जो विघ्नो का विध्वस करके सुख रूप कार्य की सिद्धि मे सहायक हो उसे मगल कहते है। वास्तव मे ऊपर जो मंगल स्वरूप बतलाये गये हैं उनका चिन्तन आदि करने से हमारे परिणामो मे जो विशुद्धता आती है उससे पाप कर्म का अनुभाग क्षीण होकर पुण्य कर्म का अनुभाग बध अधिक प्रबल हो जाता है। जिससे निर्विघ्न रूप से हमारे कार्य की सिद्धि हो जाती है। अत प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ मे मगल–कामना करना आवश्यक बतलाया गया है।

इस प्रकार कार्य के प्रारम्भ मे मगल करने से हमारी विनय की भावना का प्रगटीकरण शुभ पुण्य कर्म का बध, निर्विघ्न कार्य– पूर्णता एव परम्परा के प्रति सम्मान की भावना पैदा होती है, जो एक सत्य–साधक मानव के लिये अत्यन्त अनिवार्य है। इसलिए प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ मे मगल–कामना करना आवश्यक बतलाया गया है।

प्रश्न 10 : लोक में उत्तम कौन–कौन हैं?

उत्तर : लोक मे उत्तम चार हैं–

1. अरहन्ता लोगुत्तमा	अरहन्त लोकोत्तम हैं।
2 सिद्धा लोगुत्तमा	सिद्ध लोकोत्तम हैं।
3 साहू लोगुत्तमा	साधु लोकोत्तम है।
4 केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा	केवली प्रणीत धर्म लोकोत्तम है।

इस लोक में सर्वोत्तम वह हैं जिन्होंने ससार रूपी वृक्ष के बीज को समाप्त कर दिया है। जिससे उन्हें, इस संसार सागर में होने वाली पीडा का अन्त होकर परम शुद्ध आत्मा के संवेदन रूप अनन्त सुख का लाभ होता है। ऐसे ही साधक, एवं साध्य को प्राप्त करने वाली महान् आत्मा, एव उनके द्वारा प्रणीत धर्म जो ससार से उबरने के लिए तीर्थ रूप मे प्रवर्तित हो रहा है वही इस लोक मे सर्वोच्च उत्तम है।

प्रश्न 11 : किन–किन की शरण लेनी चाहिए ?

उत्तर : लोक में निम्नलिखित चार की शरण लेनी चाहिए–

1 अरहन्ते सरणं पव्वज्जामि	अरहन्तो की शरण लेता हूँ।
2 सिद्धे सरण पव्वज्जामि	सिद्धो की शरण लेता हूँ।
3 साहू सरण पव्वज्जामि	साधुओ की शरण लेता हूँ।
4 केवलि पण्णत्त धम्म सरणं पव्वज्जामि	केवलि–प्रणीत धर्म की शरण लेता हूँ।

चारो गतियो मे भ्रमण करने से होने वाली अनिर्वचनीय वेदना की जैसे ही यह मानव याद करता है–अपनी खोई स्मृतियो को चैतन्य करता है, उसी समय अनन्त काल का इतिहास एक क्षण मे इसकी ऑख के सामने घूम जाता है। एक श्वास के अठारहवे भाग में जन्म होने से उत्पन्न होने वाली वेदना की मात्र स्मृति से आत्मा सिहर उठती है। नरक की उस भूख एव प्यास की अपार पीडा जिस तृप्ति के लिए

तीन लोक का अनाज एव महासागर का जल भी अपर्याप्त होता है, फिर भी एक कण मात्र का एव एक बूद पानी की भी प्राप्ति नही हो सकती, ऐसी पीडा के सोचने मात्र से इसकी वर्तमान भूख एव प्यास समाप्त हो जाती है। उस शरीर की स्मृति मात्र से–जो पारे के समान खण्ड–खण्ड होकर भी पुन–पुन जुड जाता है,उस दुःख के पुन–पुनः पाने की कल्पना से इसके शरीर में रोमांच उत्पन्न हो जाता है। वह देव गति जिसमे असीम वैभव के मध्य मे उपस्थित रहते हुए भी आत्मा तृप्ति का एक अंश नही पा सका, आयु की अन्तिम घडियो मे पुनः उसी तृष्णा से एकेन्द्रिय आदि जड– जंगम काय मे उत्पन्न हुआ और किसी पुण्योदय से जब पंचेन्द्रिय देह में उत्पन्न हुआ उस समय भी कभी मन रहित और कभी मन सहित होकर पुन पुन मरण का अनन्त दुःख उठाया। और जब किसी महान् पुण्योदय से मानव देह मे जन्म लिया तो आयु का अधिकाश समय केवल उदर व विषय–पोषण की पूर्ति मे बिता दिया और वृद्धावस्था की ओर क्रमश बढने लगा, शक्ति क्षीण होने लगी, ऑखों से कम दिखने लगा, पेट की भूख मिटाने के लिये भी मुहताज होने लगा, सारा ससार इसे असार प्रतीत होने लगा। तब असहाय होकर तीव्र दु ख एवं दाह से छटपटाया हुआ यह मानव कही शरण पाने के लिए तडपने लगा। ऐसे दारुण दु ख के समय इस जीव को इस ससार मे शरण देने वाला कोई नही है, तब भी अरहन्त सिद्ध साधु एव केवली प्रणीत धर्म ही इस जीव को एक मात्र शरण प्रदाता है। ये काल के रहते हुए भी अन्तकाल को सार्थक बना देने वाले है।

इसलिए ससार के दु खों की निवृत्ति के लिए एवं इस अथाह दु ख–सागर से उबरने के लिए प्राणिमात्र को केवल अरहन्त, सिद्ध, साधु एव केवली भगवान प्रणीत धर्म ही एक मात्र शरण है। ससार रूपी भयानक अटवी मे विचरने वाले **मृग शावक रूपी मानव** के लिए ये चारो ही एक मात्र सहारा है। प्रत्येक को इनकी शरण लेनी चाहिए। मै भी इनकी शरण लेता हूँ।

प्रश्न 12 : अरहन्त परमेष्ठी के 46 मूल गुण किस प्रकार हैं?

उत्तर : अरहंत भगवान के 46 मूल गुण होते है। ये अरहत परमेष्ठी दो प्रकार के होते है–

1 सामान्य अरहन्त 2 तीर्थकर अरहन्त।

संपूर्ण मूलगुण और धर्म–तीर्थ का प्रवर्तन होना तीर्थकर अरहन्तों मे ही पाया जाता है, अन्य विशेषताएं न्यूनाधिक रूप में सभी अरहन्तों में पायी जाती है किन्तु आत्म–गुणों की अपेक्षा सभी में सदृश्यता होती है। दश अतिशय जन्म के, दश केवलज्ञान के और चौदह देवकृत– इस प्रकार 34 अतिशय, 8 प्रातिहार्य एव 4 अनन्त चतुष्टय मिलकर अरहन्त भगवान के ये 46 मूलगुण होते है।

प्रश्न 13 : अतिशय किसे कहते हैं तथा जन्म के 10 अतिशय कौन से हैं?

उत्तर : अलौकिक, आकर्षक एव विशिष्ट कार्यो को अतिशय कहते हैं अथवा सर्वसाधारण मे न पाये जाने वाले अद्भुत अनोखे प्रभाव को अतिशय कहते है।

भगवान के जन्म लेने के साथ ही उनके शरीर में निम्नांकित 10 अतिशय विद्यमान रहते है–

1 अत्यन्त सुन्दर, मनोहर, शात एवं आकर्षक रूप का होना।

2. शरीर से नि सृत होने वाली मनभावनी सुगन्ध का होना।

3 शरीर मे स्वेद (पसीना) की अनुत्पत्ति होना।

4. शरीर मे मल–मूत्र की अनुत्पत्ति होना।

5 वाणी मे सत्य, शिव, कल्याण, सौन्दर्य एव परिमितता का अद्भुत सामजस्य होना।

6 शरीर मे अलौकिक, अनुपम शक्ति का होना।

7 शरीर मे श्वेत रुधिर प्रवाहित होना।

8 शरीर मे 1008 शुभ लक्षणो का होना।

9. शरीर में समचतुरस्र संस्थान का होना।

10. शरीर में वज्रवृषभनाराच सहनन का होना।

मूलत· ये अतिशय उस उत्कृष्ट पुण्य के कारण होते हैं जिसके प्रभाव से तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति का बन्ध होता है। महान् पुण्यशाली व्यक्तित्व के लिए यह सब कुछ सामान्य होता है, भले ही हमें अद्‌भुत प्रतीत होते है।

प्रश्न 14 : केवलज्ञान के 10 अतिशय कौन से होते हैं?

उत्तर : जिस समय भगवान को निर्ग्रन्थ साधु अवस्था में महान् केवलज्ञान प्राप्त होता है उस समय उनकी उपस्थिति मात्र से आस–पास का वातावरण भी प्रभावित होता है। जिससे निम्नलिखित 10 प्रकार का प्रभाव परिलक्षित होने लगता है–

1. भगवान के चारो ओर 100–100 योजन तक सुकाल की उत्पत्ति (1 योजन = 4 कोस)

2 भगवान का आकाश में गमन होना।

3 भगवान के एक ही मुख का चारो दिशाओ को दिखाई देना (न कि चार मुख होना) जिससे चार मुखो का चारो दिशाओ में आभास होना।

4 उनके आस–पास किसी भी प्रकार की हिसा नही होती।

5 भगवान के ऊपर या उनकी सभा मे विद्यमान प्राणी के ऊपर किसी प्रकार के उपसर्ग का न होना। यदि पूर्व मे हो रहा हो तो केवलज्ञान की उत्पत्ति के साथ ही वह बन्द हो जावेगा।

6 कवलाहार अर्थात् ग्रास वाले मात्र आदि के आहार का अभाव हो जाना। उनके स्वभाव से ही केवल नोकर्माहार रूप शुभ सूक्ष्म पुद्‌गल वर्गणाओ का ग्रहण होता रहता है।

7 सर्वज्ञता का उद्‌भव हो जाना।

8 शरीर के नखो एव केशों की वृद्धि रुक जाना।

9 ऑखों की पलको का झपकना बन्द हो जाना।

10 शरीर की छाया न पडना।

प्रश्न 15– देवकृत 14 अतिशय कौन से हैं ?

उत्तर : तीर्थंकर भगवान को केवलज्ञान उत्पन्न होते ही त्रिलोक मे खुशी का महासागर उमड पडता है। प्राणि–मात्र में अद्‌भुत प्रेम का सचार हो जाता है एव देवताओ के द्वारा विशेष रूप से निम्नलिखित 14 अतिशय सम्पन्न किये जाते हैं–

1 भगवान की दिव्यध्वनि की भाषा अर्द्धमागधी होती है।

2. प्राणि मात्र मे प्रेमभाव का सचार हो जाता है जिसके कारण शेर, गाय, सर्प, नेवला एक साथ विचरते हुए भगवान का उपदेश श्रवण करते है।

3. सपूर्ण दिशायें निर्मल हो जाती है।

4 अनन्त आकाश निर्मल हो जाता है।

5 एक साथ छहों ऋतुओ का शुभागमन हो जाता है।

6 वसुधा का काच के समान स्वच्छ एव निर्मल हो जाना।

7 गमन करते समय भगवान के पादाम्बुज के नीचे सुवर्ण कमलो का निर्माण होना।

8 गगन का जयनाद से गुजायमान हो उठना।

9 मन्द एव सुरभित वायु का बहना।

10 गधोदक अर्थात् सौरभ युक्त सलिल की वर्षा होना।

11 वायुकुमार देवो की विक्रिया से पृथ्वी का ककर, पत्थर एव कटक रहित हो जाना।

12 सम्पूर्ण सृष्टि का आनन्द से सराबोर हो जाना।

13 भगवान के आगे–आगे धर्मचक्र का प्रवर्तन होना।

14. समवशरण में धर्मचक्र के पीछे अष्ट–मंगल द्रव्यो का साथ चलना।

प्रश्न 16 : अष्ट प्रातिहार्य कौन से होते हैं?

उत्तर : विशिष्ट अतिशय युक्त चीजो को प्रातिहार्य कहते है।

अरहन्त भगवान के आठ प्रातिहार्य होते है–

1. समवशरण मे भगवान के पीछे अशोक वृक्ष का होना।

2 अशोक वृक्ष के नीचे रत्नमण्डित कांतिमान सिंहासन का होना।

3. त्रिलोक के आधिपत्य को दर्शाने वाले अथवा रत्नत्रय की पूर्णता का प्रकट करने वाले, सिर पर तीन छत्रो का होना।

4. भगवान के पीछे उनके केवलज्ञान को दर्शाने वाला अत्यन्त दीप्तिमान आभा मण्डल का होना, जिसमे समवशरण मे उपस्थित प्राणियो के आगामी एव अतीत के सात भव स्पष्ट झलकते हैं।

5 भगवान के मुखारविंद से ओकार तरग रूप दिव्य ध्वनि का उद्भव होना।

6 समवशरण मे आकाश से देवताओ द्वारा पुष्पों की वृष्टि की जाना।

7 भगवान के ऊपर देवो द्वारा 64 चवरो का ढुरना।

8. समवशरण में दुन्दुभि बाजो का बजना।

प्रश्न 17–अनन्त चतुष्टयों के नाम ?

उत्तर : जैसे ही अरहन्त भगवान के चार घातिया कर्मो का विनाश होता है वैसे ही इन कर्मो के द्वारा पूर्व मे अनुबन्धित आत्मा के चार विशिष्ट गुण अपने पूर्ण तेज एव सामर्थ्य के साथ हो जाते है, ये ही चार गुण अनन्त चतुष्टय के नाम से जाने जाते है–

1 अनन्त दर्शन – दर्शनावरणी कर्म के क्षय से प्रकट होता है।

2 अनन्त ज्ञान – ज्ञानावरणी कर्म के क्षय से प्रकट होता है।

3 अनन्त सुख – मोहनीय कर्म के क्षय से प्रकट होता है।

4 अनन्त वीर्य – अन्तराय कर्म के क्षय से प्रगट होता है।

तीर्थकर भगवान के दानान्तराय कर्म के क्षय से अनन्त जीवों का अनुग्रह करने वाला अनन्त अभयदान होता है इसी कारण 100 योजन पर्यन्त सुकाल होता है तथा अदया का अभाव हो जाता है। लाभान्तराय कर्म के क्षय से तीर्थकर भगवान को अनन्त लाभ होता है इसी से केवली भगवान की शरीर स्थिति (काया) के लिए परम शुभ, सूक्ष्म अनन्त पुद्गल परमाणु प्रति समय आते है। इसलिए कवलाहार न करने पर भी उनके शरीर की स्थिति देशोन कोटि वर्ष पूर्व तक बनी रहती है। केवलज्ञान होते ही भगवान के शरीर मे अनन्त बादर निगोदिया एवं त्रस जीवो का निवास समाप्त हो जाता है, इसलिए भी उनके कोई कमजोरी नही होती।

भोगान्तराय कर्म के क्षय से अनन्त भोग होता है, जिससे गन्धोदक की वृष्टि एव पुष्पो की वृष्टि आदि होती है। उपभोग अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्त उपभोग होता है। जिसके कारण छत्र, चंवर आदि विभूतियॉ प्रगट होती है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से अनन्त वीर्य होता है। केवली अनन्त वीर्य के कारण केवलज्ञान एव केवलदर्शन द्वारा सर्व द्रव्यो एव सर्व पर्यायो को जानने और देखने मे समर्थ होते है। अर्थात् वह अनन्त शक्ति के पुज होते है।

क्षायिक दान लाभ आदि का प्रत्यक्ष कार्य, शरीर और तीर्थकर नामकर्म का उदय रहते हुए होता है। चूकि सिद्धो के उक्त कर्मो का उदय नही है, अत उनके इन भावो की सत्ता अनन्त वीर्य एव अव्याबाध सुख के रूप मे रहती है।

प्रश्न 18–तीर्थकर किन्हें कहते हैं? ये कितने होते हैं ?

उत्तर : तीर्थकर शब्द तीर्थ से निष्पन्न हुआ है। तीर्थ शब्द की निष्पत्ति **–येनतरितः संसार महार्णवेन जीवः तत् तीर्थम्** अर्थात्– "जिसके द्वारा ससार महार्णव (महासागर) से पार हुआ जाये वह तीर्थ है" और इस तीर्थ का जो प्रवर्तन या प्रचार करे वह तीर्थकर कहलाते है। इस प्रकार से तीर्थकर शब्द का अभिधात्मक अर्थ " सेतु या घाट" होता है

किन्तु इसका लाक्षणिक अर्थ "धर्म की परम्परा" होता है। अतः जो धर्म अर्थात् मोक्षमार्ग का प्रवर्तन करे उसे तीर्थकर कहते है।

तीर्थकर किसी नूतन धर्म अथवा अभिनव सम्प्रदाय का प्रवर्तन नही करते, अपितु अनादिनिधन अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तित तीर्थ (धर्म, मोक्ष मार्ग) की पुनर्व्याख्या कर उसमे नये जीवन का संचार कर देते हैं। प्रत्येक तीर्थकर समग्र, सत्यदृष्टा होने से प्रचलित रूढिवादी परम्पराओ एवं धार्मिक विरोधो को समाप्त कर एक स्वस्थ चिन्तन प्रक्रिया का विकास करते है।

आगम बतलाता है कि अतीत के अनन्त–काल में अनन्त तीर्थकर हुए हैं और अनागत (भविष्य) अनन्तकाल में अनन्त तीर्थकर होवेंगे। वर्तमान तीर्थकर परम्परा मे चौबीस हुए है। जिसमे आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव एव अन्तिम तीर्थकर भगवान् महावीर स्वामी है, जिनका धर्म–तीर्थ अभी प्रवर्तमान है।

वर्तमान पुरातत्व सम्बन्धी खोजों से भगवान् ऋषभदेव एव भगवान् नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर न केवल एक पौराणिक पुरुष अपितु एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप मे भी स्वीकृत किये जा चुके हैं।

वर्तमान तीर्थ परम्परा में चौबीस तीर्थकर एवं उनके चिह्न निम्नलिखित हैं–

क्रम संख्या	तीर्थकरों के नाम	चिह्न
1	ऋषभनाथ (आदिनाथ)	वृषभ
2	अजितनाथ	हाथी
3	संभवनाथ	घोडा
4	अभिनन्दननाथ	बन्दर
5	सुमतिनाथ	चकवा
6	पद्मप्रभ	कमल
7	सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक
8	चद्रप्रभ	चद्रमा

9.	पुष्पदंत (सुविधिनाथ)	मगर
10	शीतलनाथ	कल्पवृक्ष
11.	श्रेयासनाथ	गैडा
12	वासुपूज्य	भैसा
13	विमलनाथ	शूकर
14	अनन्तनाथ	सेही
15.	धर्मनाथ	वज्रदण्ड
16	शातिनाथ	हिरण
17.	कुन्थुनाथ	बकरा
18.	अरहनाथ	मच्छ
19	मल्लिनाथ	कलश
20.	मुनिसुव्रतनाथ	कछुआ
21	नमिनाथ	लालपद्म
22	नेमिनाथ	शख
23.	पार्श्वनाथ	सर्प
24	वर्द्धमान (महावीर)	सिह

चिह्न निश्चित करने की परम्परा यह है कि जन्म–कल्याणक के समय सुमेरु पर्वत पर ले जाकर भगवान् का अभिषेक करते समय उनके दाहिने पैर के अगूठे पर इन्द्र को जो चिह्न दिखाई देता है, उसे ही उनके नाम के साथ उनका चिह्न घोषित किया जाता है। प्रतिमा पर चिह्न अंकित करने का मूल हेतु भगवान् विशेष की पहचान करना है।

इनमे से भगवान् शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ एव अरहनाथ– 'तीर्थकर' 'चक्रवर्ती' एव 'कामदेव' इन तीन उपाधियों से विभूषित थे।

भगवान् वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एव भगवान् महावीर स्वामी ये पॉच बाल ब्रह्मचारी तीर्थकर थे।

प्रश्न 19 : भगवान को वीतराग क्यों कहा जाता है ?

उत्तर : अरहन्त भगवान अठारह दोषो से रहित होते है। अत: वीतराग कहे जाते हैं। ये अठारह दोष निम्नलिखित हैं–

1 जन्म, 2 जरा, 3 तृषा (प्यास), 4 क्षुधा (भूख), 5 विस्मय, 6 अरति, 7 खेद, 8 रोग, 9 शोक, 10. गर्व, 11 मोह, 12 भय, 13 निद्रा, 14. चिन्ता, 15 स्वेद (पसीना), 16. राग, 17. द्वेष, 18 मृत्यु। इन अठारह दोषों से विनिर्मुक्त होकर आप्त भगवान निरजन बन जाते हैं।

इन अठारह दोषों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है–

1. जन्म : कर्मों के निमित्त से चतुर्गति रूप ससार में उत्पत्ति होने को जन्म कहते है।

2. जरा : वृद्धावस्था को जरा कहते हैं।

3. तृषा : प्यास लगने को तृषा कहते है।

4. क्षुधा : भोजन की इच्छा को क्षुधा कहते है।

5. विस्मय : आश्चर्यचकित हो जाने को विस्मय कहते है।

6. अरति : अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर जो अप्रसन्नता होती है उसे अरति कहते है।

7. खेद : थकावट को खेद कहते है।

8. रोग : वात, पित्त, तथा कफ के विकार से उत्पन्न होने वाली व्याधि को रोग कहते है।

9. शोक : किसी भी इष्ट पदार्थ के वियोग मे व्याकुल होने को शोक कहते है।

10. गर्व (स्मय) : जाति, कुल, ज्ञान, ऐश्वर्य आदि के अहकार को गर्व या स्मय कहते है।

11. मोह : पर पदार्थो मे अह बुद्धि होने को मोह कहते है। जैसे शरीर रूप मे 'मै' हूँ।

12. भय : इहलोक, परलोक, अरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक इन सात प्रकार के डरो को भय कहते है।

13. निद्रा : श्रम से थककर विश्राम करने को निद्रा कहते है।

14. चिन्ता : इष्ट पदार्थो का वियोग होने पर उनकी प्राप्ति के लिए एव अनिष्ट पदार्थो का सयोग होने पर उन्हे दूर करने के लिए परिणामो मे जो विकलता होती है उसे चिन्ता कहते है।

15. स्वेद : पसीना की उत्पत्ति को स्वेद कहते है।

16. राग : पदार्थ में ममता होने को राग कहते है।

17. द्वेष : अनिष्ट पदार्थो मे अप्रीति रूप भावों को द्वेष कहते हैं।

18. मरण : जिसके पश्चात् पुनर्जन्म धारण करना पडे उस जीवन के समाप्त होने को मरण कहते हैं। अरहत भगवान इस दोष से मुक्त होते है। उनका मरण न होकर निर्वाण होता है। निर्वाण वह है जिसके पश्चात् पुनर्जन्म की परम्परा समाप्त हो जाती है।

इन अठारह दोषो से मुक्त होने के कारण ही अरहन्त भगवान वीतराग कहलाते है। 'वीतराग' शब्द भी अत्यन्त समीचीन एवं महत्त्वपूर्ण है। "जिनका राग समाप्त हो गया है वे कहलाते है वीतराग"। यहाँ राग समाप्ति का ही उल्लेख किया गया है न कि क्रोध, लोभ, द्वेष आदि अन्य विकारो का। इसका कारण बिल्कुल स्पष्ट है, क्योकि जब कोई भी साधक सिद्ध बनने की दिशा मे प्रयास करता है तब द्वेष, काम ,क्रोध आदि अन्य मनोविकार प्रारम्भ में ही समाप्त हो जाते है, परन्तु उसकी राह मे बाधक तत्व रह जाता है, उसका राग भाव। अत. जिसने इस राग को समाप्त कर दिया, उसने चरम सिद्धि को प्राप्त कर लिया। इसलिए भगवान को कहा गया है "वीतराग"।

प्रश्न 20–सिद्ध परमेष्ठी के अष्ट मूलगुण किस प्रकार हैं ?

उत्तर : सिद्ध परमेष्ठी के अष्ट मूल गुण निम्न प्रकार हैं जो कि कर्मों के पूर्ण क्षय से उत्पन्न होते है।

1. **अनन्तज्ञान** : यह दर्शनावरण–कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से आत्मा मे अनन्त पदार्थों को युगपत् समग्र रूप मे जानने की शक्ति प्रकट हो जाती है।

2. अनन्तदर्शन : यह दर्शनावरण–कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है।

3. अव्याबाधत्व : यह वेदनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से आत्मा मे कर्मजनित सुख एव दुःख की अनुभूति का अभाव हो जाता है।

4. क्षायिक सम्यक्त्व: यह मोहनीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है।

5. अवगाहनत्व : यह आयु–कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसके प्रकट होने से आयु–कर्म के कारण निश्चित काल तक रहने की परतन्त्रता का अभाव हो जाता है।

6. सूक्ष्मत्व : यह नाम कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसके प्रकट होने से इन्द्रियगम्य स्थूलता का अभाव हो जाता है।

7. अगुरूलघुत्व : यह गोत्र कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसके प्रकट होने से उच्चता एवं निम्नता रूप भाव का अभाव हो जाता है।

8. अनन्त–वीर्य : यह अन्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से आत्मा मे अनन्त भोगोपभोग की शक्ति उत्पन्न होती है।

प्रश्न 21 : आचार्य परमेष्ठी के छत्तीस मूल गुण किस प्रकार हैं ?

उत्तर : आचार्य परमेष्ठी के छत्तीस मूल गुण निम्न प्रकार है–

1 द्वादश तप

2 दशधर्म

3 पंचाचार

4 त्रिगुप्ति

5 षड् आवश्यक।

प्रश्न 22 : बारह प्रकार के तप कौन से हैं व उनका स्वरूप किस प्रकार है ?

उत्तर : तप–जिस साधन के माध्यम से अनादि से विषय–कषायों में अनुरक्त कर्ममल से मलिन, पतित आत्मा को पावन बनाया जाये अर्थात् विभाव की ओर से आकृष्ट किया जाये उसे तप कहते हैं।

यह तप बाह्य और आतरिक दो प्रकार का है।

प्रत्येक के 6–6 भेद है।

बाह्य तप–ये बाह्य पदार्थ के आश्रय से होते हैं एव ये प्रत्यक्ष दिखाई देते है। इसलिए इन्हे बाह्य तप कहते है। इनके छ. भेद हैं–अनशन, अवमौदर्य (ऊनोदर), वृत्तिपरिसख्यान, रस परित्याग, विविक्त–शय्यासन और कायक्लेश।

(1) अनशन या उपवास : विषय–कषायो एव चारो प्रकार के आहार के सम्यक् परित्याग को उपवास कहते है। मात्र आहार का त्याग जिसमे किया जाता है उसे आचार्यो ने शरीर सिद्धि का हेतु बतलाया है। उपवास का मूल उद्देश्य या लक्ष्य अपनी आत्मा के यथार्थ स्वरूप की ओर दृष्टिपात करना, सयम की सम्यक् साधना, राग–निवृत्ति और ध्यान–सिद्धि है।

(2) अवमौदर्य या ऊनोदर : सयम मे प्रमाद रहित प्रवृत्ति, सन्तोष, शान्ति, स्वाध्याय की पूर्णता, निद्राविजय एव निरतिचार सामयिक सिद्धि के लिए भूख से कम खाना "अवमौदर्य" नाम का तप है। इसी के अन्तर्गत चन्द्रायण व्रत आता है जिसमे एक–एक ग्रास से क्रमश बढाते हुए 15 ग्रास तक एव 15 ग्रास से क्रमश घटकर एक ग्रास तक आ जाते है अर्थात् भूख से एक ग्रास कम खाना भी ऊनोदर तप के अन्तर्गत आता है।

(3) वृत्तिपरिसंख्यान : आहार के लिए जाते समय कोई विशेष नियम लेकर चलना, वृत्तिपरिसख्यान नाम का तप है। इसका मूल उद्देश्य अपनी चित्तवृत्ति पर विजय प्राप्त करना एव भोजन सम्बन्धी आसक्ति को क्षीण करना है।

(4) रस–परित्याग : ध्यान की सिद्धि के लिए, एव इन्द्रियो तथा निद्रा पर विजय प्राप्त करने के लिए कामवर्द्धक घी आदि गरिष्ठ पदार्थो का या अन्य रस विशेष का यथायोग्य त्याग करना "रस–परित्याग" नाम का तप है।

(5) विविक्त शय्यासन : ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय एव ध्यान सिद्धि के लिए एकान्त एव पवित्र स्थान में शयन करना एव आसन लगाना, "विविक्त शय्यासन" नाम का तप है। इस तप में राग–द्वेष की उत्पत्ति के अनेक कारण स्वत अलग हो जाते है एवं चित्त वैराग्य एव आत्म–चिन्तन की ओर प्रवृत्त होता है।

(6) कायक्लेश : शरीर से राग–भाव की निवृत्ति के लिए एव ध्यान की पूर्ण सिद्धि के लिए अनुकूल व प्रतिकूल परिस्थितियो मे शरीर के माध्यम से आसन विशेषो के द्वारा साधना करना कायक्लेश नाम का तप है। इसी कारण से श्रमण सस्कृति मे ग्रीष्म ऋतु में तप्त पर्वत–शिला पर, शीत ऋतु मे खुले मैदान में एव वर्षा ऋतु में वृक्ष तले एव नदी आदि के किनारे आसन लगाकर ध्यान करने की विवेचना है। कुछ लोगो की मान्यता है कि काया को कष्ट देना, सुखना, यह "कायक्लेश" नाम का तप है, परन्तु आचार्यो का यह उद्देश्य कदापि नही है। यह तो ससारी जीवो को लगता है। आचार्यों की दृष्टि मे तो वह ब्रह्मानन्द रूप है।

अन्तरग तप– इन तपो मे मानव के मानस (अन्तरग) की प्रवृत्ति मूल हेतु है। इसलिए इन्हे अन्तरग तप कहते है। अन्तरग तप के भी छ भेद है– प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग एवं ध्यान।

(1) प्रायश्चित्त– अपराध शुद्धि के लिए प्रमादपूर्वक की हुई गल्तियो को विशुद्ध हृदय से गुरु के सामने कह देना एव प्रायश्चित्त–स्वरूप

गुरु जो दण्ड दे उसे स्वीकार कर लेना, यह "प्रायश्चित्त" नाम का तप है। इसके नौ भेद है–

1:1. आलोचना – गुरु के समीप, लगे हुए सम्पूर्ण दोषो के लिए हृदय से अपनी निन्दा या गर्हा करना "आलोचना" नाम का प्रायश्चित्त तप है।

1:2. प्रतिक्रमण – मेरे द्वारा अज्ञान से व्रत मे लगाये गये दोष मिथ्या हों ऐसा निवेदन करना प्रतिक्रमण कहलाता है। अपराध के प्रति प्रायश्चित्त की भावना होने से कर्म की स्थिति तथा अनुभाग–बन्ध क्षीण हो जाता है।

1:3. तदुभय – आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों को एक साथ करना तदुभय कहलाता है। दु स्वप्न अथवा संक्लेशादि परिणामों से उत्पन्न दोषो का निराकरण करने के लिए आलोचना और प्रतिक्रमण–पूर्वक की जाने वाली अपराध–शुद्धि को तदुभय नाम का प्रायश्चित्त कहते हैं। शिष्य आलोचना एव तदुभय इन दोनो के द्वारा अपराध की शुद्धि करता है किन्तु गुरु मात्र प्रतिक्रमण द्वारा ही अपराध की शुद्धि कर लेता है।

1:4. विवेक – त्याज्य या अप्रासुक पदार्थ का ग्रहण हो जाने पर पुन. उसका त्याग करना अथवा सपुष्ट (स्पर्श किये हुए) आहार एवं उपकरण आदि का विभेद करना विवेक नाम का तप है। इसमे आचार्य महाराज अपराधी को ऐसा दण्ड देते है कि जब कोई साधु आहार से निवृत्त हो जाये तब तुम चर्या के लिए जाना, जहॉ किसी साधु का आहार हो रहा हो वहॉ मत जाना आदि।

1:5. व्युत्सर्ग – शरीर से मोह का उत्सर्ग करके ध्यानपूर्वक एक मुहूर्त, एक दिन, पक्ष आदि नियमित अवधि के लिए खडे रहना "व्युत्सर्ग" नाम का तप है। इस अवधि मे शरीर का विदारण होने पर भी ध्यान से विचलित नही हुआ जाता। यह प्रायश्चित्त ऐसे अपराध के लिए दिया जाता है जिसके दोष का निर्णय न किया जा सके तथा अपराध बडा हो। यह प्रायश्चित्त उष्णादि की बाधा सहन करने की शारीरिक सामर्थ्य वाले साधु को ही दिया जाता है। जैसे–अकपनाचार्य

ने मन्त्रियो से वाद–विवाद करने पर मुनिराज को दण्ड दिया था।

1:6. तप – व्रत मे लगे हुए अतिचार की शुद्धि के लिए उपवास आदि करने का दण्ड देना तप नाम का प्रायश्चित्त है। जैसे–अपराध होने पर आचार्य महाराज ने दण्ड दिया, एक–एक दिन के अन्तर से दो उपवास करो, दस दिन नीरस आहार करो आदि।

1:7. छेद – व्रत मे लगे हुए किसी विशेष अनाचार के लिए अपराधी शिष्य की माह, दो माह अथवा एक वर्ष की दीक्षा कम कर देना "छेद" नाम का प्रायश्चित्त तप है।

1:8. परिहार – व्रत में लगे हुए विशेष दोष की शुद्धि के लिए दोषी साधु के लिए किसी निश्चित अवधि के लिए संघ से पृथक् कर देना परिहार नाम का प्रायश्चित्त तप है। यह परिहार उत्कृष्ट रुप से बारह वर्ष का होता है। इस प्रायश्चित्त के पाने वाले साधु को कोई साधु वन्दना नही करता है तथा वह सबको वन्दना करता है। गुरु के अतिरिक्त अन्य साधुओ से मौन रहता है।

1:9 उपस्थापना – व्रत में लगे हुए विशेष अक्षम्य दोष की शुद्धि के लिए सम्पूर्ण दीक्षा को छेदकर फिर से नवीन दीक्षा देना उपस्थापना नाम का प्रायश्चित्त तप है। इस प्रायश्चित्त को प्राप्त हुआ मुनि अपने सघ के अन्य समस्त साधुओ को वन्दना करता है जो पहले इसे वन्दना करते थे।

(2) विनय : पूज्य पुरुषो के समक्ष आने पर आदर भाव से खडे होकर उच्चासन देना, रत्नत्रय एव उसके धारक पुरुषो का नम्रतापूर्वक अभिवादन करना "विनय" तप कहलाता है। यह चार प्रकार का होता है।

2:1. ज्ञान – विनय गुरु की विनय रखना, विद्या गुरु का नाम नही छिपाना, यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करना, आदरपूर्वक योग्य काल मे शास्त्र पढना और सबसे बडी विनय पढे हुए विषय का अभ्यास करना, उसके प्रति आदर भाव रखना, वह "ज्ञान–विनय" है।

2:2. दर्शन–विनय – बुद्धिपूर्वक सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करना एव सम्यक् दर्शन का अष्ट अग एवं पच्चीस दोष–रहित पालन करना सम्यक् दर्शन एव उसके धारको के प्रति विनीत होना दर्शन–विनय है।

2:3. चारित्र–विनय – चारित्र को निर्दोष रीति से पालन करना एव उसके प्रति आदर भाव रखना चारित्र–विनय है।

2:4. उपचार–विनय – मान्य पुरुषो को सामने आते देखकर खडे होकर, कुछ चलकर नमन करना, फिर उनका अनुगमन करना, साथ चलते वक्त गुरु को अपने दाये हाथ की तरफ रखकर चले, उपसर्ग की स्थिति मे गुरु के आगे एव सामान्य स्थिति मे उनके पीछे चले एव परोक्ष रूप मे उन्हे मस्तक झुकाना आदि यह उपचार–विनय है।

(3) वैयावृत्य : पूज्यनीय पुरुषो के शरीरादि द्वारा सेवा–शुश्रूषा करना, उन्हे सब तरह से समाधान करना "वैयावृत्य" नाम का तप है। जिन मुनियो की वैयावृति की जाती है वे इस प्रकार के है–

3:1. आचार्य – जो मुनिसघ के अधिपति होते हैं।

3:2. उपाध्याय – जिनके पास मुनिगण शास्त्र–स्वाध्याय करते है।

3:3. तपस्वी – जो अधिक व्रत, उपवासादि करते है।

3:4. शैक्ष्य – जो श्रुत्रि का अभ्यास करते हैं।

3:5. ग्लान – जिनके शरीर मे कुछ कष्टादि होता है।

3:6. गण – एक ही आचार्य से दीक्षित वृद्ध साधुओ का समूह गण कहलाता है।

3:7. कुल – एक ही गुरु से दीक्षित शिष्य–प्रशिष्यो का समूह कुल कहलाता है।

3:8. संघ – ऋषि, यति, मुनि एव अनगार, इन चार प्रकार के साधुओं के समूह को राघ कहते है।

(अ) ऋषि – विशेष ऋद्धि प्राप्त साधु।

(ब) यति – जो पाक्षिक, मासिक आदि उपवास करते है।

(स) मुनि – अवधि, मनपर्यय आदि विशेष ज्ञान से युक्त साधु।

(द) अनगार – सामान्य साधु जो ऊपर की श्रेणी मे नही आते।

3:9. साधु – जो आरम्भ परिग्रह से रहित ज्ञान ,ध्यान, तप मे लीन रहकर साधना करते है, उन्हे साधु कहते है।

3:10. मनोज्ञ – जिनकी लोक मे कीर्ति फैली हो अर्थात् जो लोकमान्य एव लोकपूज्य हों।

(4) स्वाध्याय : प्रमाद को छोडकर श्रुत के माध्यम से स्वय का अध्ययन करना स्वाध्याय नाम का तप है। इसके पांच भेद हैं–

4:1. वाचना – शब्दों का सही उच्चारण एवं निर्दोष अर्थ का अवधारण करते हुए शास्त्र का पढना और दूसरो को श्रवण कराना–वाचना नाम का स्वाध्याय है।

4:2. पृच्छना – विनयभाव से शका निवृत्ति के लिए तत्व ज्ञान को दृढ करने के लिए एव यथार्थ तत्व–निर्णय के लिए विशिष्ट विज्ञ पुरुषो से प्रश्न पूछना– पृच्छना नाम का स्वाध्याय है। वक्ता से उत्तर बनता है या नही या अपनी विद्वत्ता प्रकट करने के अभिप्राय से प्रश्न पूछना यह पृच्छना नाम का स्वाध्याय नही है, वह तो कर्म–बन्ध का ही कारण है।

4:3. अनुप्रेक्षा – श्रवण किये हुए अथवा वाचन किये हुए विषय का बार–बार चिन्तन एव मनन करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है। इसी स्वाध्याय से आगम प्रतिपादित तत्व का यथार्थ निर्णय एव अवधारण होता है।

4:4. आम्नाय – श्रवण किये हुए अथवा वाचन किये हुए पाठ का निर्दोष उच्चारण करते हुए उसे याद करना "आम्नाय" नाम का स्वाध्याय है।

4:5. धर्मोपदेश – ज्ञान का विशेष क्षयोपशम होने पर धर्म का यथार्थ स्याद्वादमय शैली से उपदेश देना या धर्म–चर्चा करना धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय है। यहॉ धर्मोपदेश नाम का स्वाध्याय सबसे अन्त मे

रखा है जिससे स्पष्ट होता है कि सिद्धांत का यथार्थ गम्भीर रुप से वाचन, चिन्तन, अनुचिन्तन के बाद ही धर्मोपदेश करना योग्य है।

(5) व्युत्सर्ग : व्युत्सर्ग शब्द का अर्थ होता है 'त्याग'। शरीर एवं पर पदार्थो मे अह भाव एव ममत्व को छोडना व्युत्सर्ग तप है। इसके दो भेद है–

5:1. बाह्य व्युत्सर्ग – आत्मा से स्पष्ट अलग दिखने वाले पदार्थो के प्रति ममत्व को छोडना बाह्य व्युत्सर्ग है।

5:2. आभ्यन्तर व्युत्सर्ग – आत्मा मे उत्पन्न होने वाले राग–द्वेष एव क्रोधादि कषाय–रूप परिणामो का त्याग करना आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है।

(6) ध्यान : किसी एक विषय के चिन्तन में मन को स्थिर (एकाग्र) करना ध्यान कहलाता है। जब मन की बहिर्मुख प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाकर चित्त के विक्षेप को रोका जाता है उस समय आत्मा स समस्त सकल्प–विकल्पो की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है, जिसमें अनादिकालीन कर्मो की सन्तति क्षीण होकर टूट जाती है, जिससे यह जीव अपनी सच्चिदानन्द स्वरूप अवस्था (मोक्ष) को प्राप्त होकर जन्म–मरण के बधन से मुक्त हो जाता है। इस ध्यान के चार भेद हैं।

आर्त्तध्यान : आर्त्त शब्द "ऋत" अथवा अर्ति इनमे से किसी एक से बना है। इनमे से ऋत का अर्थ दुःख है। और अर्तिकी "अर्दन अर्तिः" ऐसी निरुक्ति होकर पीडा पहुँचाना उसका अर्थ है। अत ऋतु से या अर्ति मे जो होता है वह आर्त्त है। आर्त्त परिणामो मे होने वाला चिन्तानिरोध आर्त्तध्यान है।

आर्त्तध्यान के 4 भेद हैं – (1) अनिष्टसयोगज, (2) इष्टवियोगज, (3) वेदनाजन्य और (4) निदानबध।

(1) अनिष्टसंयोगज आर्त्तध्यान का स्वरूप : अमनोज्ञ पदार्थ के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिये चितासातत्य का (सतत चिता) होना प्रथम आर्त्तध्यान है।

(2) इष्टवियोगज आर्त्तध्यान का स्वरूप : मनोज्ञ वस्तु के

वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत चिन्ता करना दूसरा "इष्टवियोगज" नाम आर्त्तध्यान है।

(3) वेदनाजन्य आर्त्तध्यान का स्वरूप : वेदना के होने पर उसे दूर करने के लिये सतत चिन्ता करना तृतीय पीडा चिन्तन नामक आर्त्तध्यान है।

(4) निदानबंध आर्त्तध्यान का स्वरूप : निदान नाम का भी आर्त्तध्यान है। (निदान यह चतुर्थ आर्त्तध्यान है) अनागत भोगों की वान्छा को निदान कहते है।

रौद्रध्यान : रुद्र का अर्थ क्रूर आशय वाला पाणी है। रुद्र का कर्म या रुद्र में होने वाला कर्म रौद्र है। रौद्र परिणामो में होने वाला चिन्तानिरोध रौद्रध्यान है।

रौद्रध्यान के 4 भेद हैं – (1) हिसानन्द (2) मृषानन्द (3) चौर्यानन्द और (4) परिग्रहानन्द।

(1) हिंसानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप : दूसरे जीवो का प्राणघात कर या दूसरों को दुखी करके आनन्द मानना हिंसानन्द नामक रौद्रध्यान है। यथा–गृहस्थावस्था मे जीव घर की, मकान की दुकान आदि की सफाई करते हुए अनेको जालो को तोडता है, सूक्ष्म जीवो की हिसा भी करता है फिर भी घर को साफ स्वच्छ सुथरा देखकर आनन्दित होता है। दूसरो को भड वचन बोलकर, दूसरो को ठगकर आनन्द मानता है यह सब हिसानन्द रौद्रध्यान है।

(2) मृषानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप : झूठ बोलकर आनन्द मानना मृषानन्द नामक रौद्रध्यान है। अल्प मूल्य की वस्तु बहुमूल्य की कहना, अपनी गल्ती को छुपाने के लिये झूठ बोलकर आनन्द मनाना यह सब मृषानन्द नामक रौद्रध्यान है।

(3) चौर्यानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप : दूसरो की वस्तुओ का अपहरण करके आनन्द मानना चौर्यानन्द नाम का रौद्रध्यान है। असली वस्तु को नकली वस्तु मे मिलाकर आनन्द मानना, परीक्षाओ मे चोरी से नकल करके आनन्द मानना आदि रौद्रध्यान है।

(4) परिग्रहानन्द रौद्रध्यान का स्वरूप : परिग्रह सचय करके आनन्दित होना, विषय भोगो की वस्तुओ का सरक्षण करना, उनके सरक्षण व संचय मे आनन्द मानना परिग्रहानन्द रौद्रध्यान है।

धर्म्यध्यान : वस्तु के स्वरूप को धर्म कहते हैं। जो धर्म से युक्त होता है। उसे धर्म्य कहते है। धर्म्यरूप परिणामो में "चिन्तानिरोध" धर्म्यध्यान कहलाता है।

धर्म्यध्यान के 4 भेद हैं – (1) आज्ञाविचय (2) अपायविचय (3) विपाकविचय और (4) सस्थानविचय।

(1) आज्ञाविचय धर्म्यध्यान का स्वरूप : उपदेष्टा का अभाव होने से, बुद्धि का मन्द होने से, कर्मो का उदय होने से, पदार्थों के सूक्ष्म होने से, तथा तत्त्व के समर्थन में हेतु और दृष्टान्त का अभाव होने पर सर्वज्ञ प्रणीत आगम को प्रमाण करके "यह इसी प्रकार है, क्योकि जिनेन्द्रदेव अन्यथावादी नही होते" इस प्रकार गहन पदार्थ के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञाविचय धर्म्यध्यान है।

(2) अपायविचय धर्म्यध्यान का स्वरूप : मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुष के समान सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख हो रहे है, ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से कब कैसे छूटेंगे इस प्रकार निरन्तर चिन्तन करना अपायविचय धर्म्यध्यान है।

(3) विपाकविचय धर्म्यध्यान का स्वरूप : ज्ञानावरणादि कर्मो के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव निमित्तक फल के अनुभव के प्रति उपयोग का होना विपाकविचय धर्म्यध्यान है।

(4) संस्थानविचय धर्म्यध्यान का स्वरूप : लोक बारे मे चिन्तन करना ही सस्थानविचय धर्म्यध्यान है।

शुक्लध्यान : जो मल (कषाय) रहित जीव के परिणामो से उत्पन्न होता है वह शुक्ल है अथवा जिससे शुचिगुण का सबध है वह शुक्ल है। शुक्ल परिणामो मे चिन्तानिरोध हो जाना शुक्लध्यान है।

शुक्लध्यान के 4 भेद हैं – (1) पृथक्त्ववितर्क (2) एकत्ववितर्क (3) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और (4) व्युपरतक्रियानिवर्ती।

(1) पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान का स्वरूप : पृथक्–पृथक् अर्थ, व्यंजन, योग की सक्रान्ति और श्रुत जिसका आधार है वह पृथक्त्ववितर्क शुक्लध्यान होता है।

(2) एकत्ववितर्क शुक्लध्यान का स्वरूप : जो शुक्लध्यान तीनो योगो में से किसी एक योग के साथ होता है तथा अर्थ, व्यजन योग की सक्रान्ति से रहित है वह एकत्वविर्तक शुक्लध्यान है।

(3) सुक्ष्मक्रियाप्रतिपाती शुक्लध्यान का स्वरूप : सूक्ष्मकाययोग के अवलबन लेकर केवली जिन के जो ध्यान होता है वह सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती है। सूक्ष्म क्रिया तथा अप्रतिपाती होने से इसका नाम सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती है।

(4) समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यान का स्वरूप : जिस ध्यान मे सर्व मन–वचन–काय सबधी क्रियाओ का विरोध होता है उसे समुच्छिन्नक्रियानिवर्ति अथवा व्युपरतक्रियानिवर्ती ध्यान कहते है।

प्रश्न 23 : आचार्य परमेष्ठी के दस धर्मों के नाम एवं स्वरूप क्या हैं ?

(1) उत्तम क्षमा
(2) उत्तम मार्दव
(3) उत्तम आर्जव
(4) उत्तम शौच
(5) उत्तम सत्य
(6) उत्तम सयम
(7) उत्तम तप
(8) उत्तम त्याग
(9) उत्तम आकिचन्य
(10) उत्तम ब्रह्मचर्य।

धर्म का स्वरूप : जिसके माध्यम से आत्मा के शुद्ध–स्वरुप की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते है। यह धर्म दस प्रकार का होता है–

1. उत्तम क्षमा—क्रोध के कारण उपस्थित होने पर भी मन में विकार भाव नही लाना, कर्म–सिद्धान्त का चिन्तन करते हुए प्राणिमात्र पर साम्य–भाव रखना उत्तम क्षमा धर्म है।

अत्यन्त दारुण भयानक उपसर्ग उपस्थित होने पर भी जिनका निर्मल चित्त क्रोध से आवृत नही होता है, जिनके हृदय से सब प्राणियो के प्रति मैत्री भाव एव समता का स्रोत सतत् उमडता रहता है, निःशल्य एव कषाय–रहित ऐसे श्रमण के यह निर्मल उत्तम क्षमा धर्म होता है।

2. उत्तम मार्दव—अहकार पर विजय प्राप्त करना एव अन्तर–बाह्य नम्रता धारण करना उत्तम मार्दव धर्म है।

कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, तप, कीर्ति एव शक्ति के गर्व से रहित बहिर्दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाकर, आत्म–गुणों के प्रति निष्ठा से पूरित, हृदय–कमल से सुशोभित श्रमण के उत्तम मार्दव धर्म होता है।

3. उत्तम आर्जव—योगो की प्रवृत्ति को सरल बनाना अर्थात् छल–कपट का परित्याग करना उत्तम आर्जव धर्म है।

मन, वचन और काय की सहज ऋजु मगल प्रवृत्ति से विभूषित श्रमण के उत्तम आर्जव धर्म होता है।

4. उत्तम शौच—पर पदार्थों के प्रति ममत्व भाव का त्याग करते हुए एव स्व–स्वरूप मे आत्मीय भाव धारण उत्तम शौच धर्म है।

विषय भोगों की उपलब्धि से सतत बढने वाली अतृप्त लालसा की जड तृष्णा के यथार्थ विकराल रूप का दर्शन कर लेने वाला श्रमण, सन्तोष एव ममत्व के निर्मल महासागर मे निरन्तर निमज्जन करता हुआ आत्म–रस का चातक बनकर, आत्मानुभूति का मधुर रस पीता रहता है। ऐसे श्रमण के उत्तम शौच धर्म होता है।

5. उत्तम सत्य—ससार के यथार्थ स्वरूप को समझकर सवेग भाव से हित, मित एव प्रिय वचन बोलना यह उत्तम सत्य धर्म है।

समस्त धर्मों का उद्‌गम स्वरूप 'सत्य' कडवी औषधि के समान प्राणिमात्र के कल्याण का मूल है। इस सत्य विचार को स्वीकार कर

दूसरों को दुःख एव सताप पहुँचाने वाले वचनो का विसर्जन कर, स्व–पर–हितकारी वचनो के बोलने वाले श्रमण के उत्तम सत्य धर्म होता है।

6. उत्तम संयम–पॉच इन्द्रियो और मन के विषयो मे प्रवृत्ति नही करना एव षट्काय के जीवो की रक्षा करते हुए प्रमाद–रहित प्रवृत्ति करना उत्तम संयम धर्म है।

इन्द्रिय–विषयो एव कषायों का परित्याग करके पंच महाव्रत मन, वचन और काय की प्रवृति के निरोध रूप त्रिगुप्ति एव प्रमाद रहित प्रवृत्ति की द्योतक पॉच समिति रूप प्रवृत्ति के सम्यक् परिपालन में प्रवृत्त हुए श्रमण के उत्तम सयम–धर्म होता है।

7. उत्तम तप–ध्यान की सिद्धि के लिए एव इन्द्रिय–विजय के लिए द्वादश तपो का सम्यक् पालन करना उत्तम तप धर्म है। ध्यान एव स्वाध्याय के मूल हेतु, स्वाधीन प्रवृत्ति के परिचालक द्वादश तपो मे समीचीन प्रवृत्ति रखने वाले श्रमण के उत्तम तप धर्म होता है।

8. उत्तम त्याग–आत्मा के विकारी भावो का परित्याग करने के लिए प्रयत्न करना एव चौदह प्रकार के अन्तरग तथा दस प्रकार के बाह्य–परिग्रह का त्याग करना उत्तम धर्म है।

ससार शरीर एवं भोगो के प्रति उदासीन होकर काम, क्रोध, द्वेष आदि विकारो से विलग होकर पर–पदार्थो मे होने वाले ममत्व–भाव के परित्याग करने वाले श्रमण के उत्तम त्याग धर्म होता है।

9. उत्तम आकिंचन्य–शरीर एव बाह्य पदार्थो के प्रति ममत्व न रखते हुए स्व–तत्त्व मे उपादेय बुद्धि रखना उत्तम आकिचन्य धर्म है।

सम्पूर्ण परिग्रह के त्याग से निसग होकर, पर पदार्थो से मोह को त्याग कर, स्वाधीन एकत्व विमुक्त आत्मा के अलावा किचित् मात्र भी परिग्रह मेरा नही, ऐसी प्रवृत्ति वाले श्रमण के उत्तम आकिचन्य धर्म होता है।

10. उत्तम ब्रह्मचर्य–मानुषी, देवी, तिर्यचनी और अचेतन इन चारो प्रकार की स्त्रियो के ससर्ग से सर्वथा मुक्त होकर त्रिकाली, शुद्ध ज्ञान,

दर्शन–स्वभाव वाले एकत्व विमुक्त स्व–आत्म मे ही रमण करना उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म है।

जगत् के यथार्थ स्वरूप को जानने वाले सर्वकाय–विकारो से रहित एकत्व विभक्त आत्मा मे ही सदैव चर्या (रमण) करने वाले श्रमण के उत्तम ब्रह्मचर्य धर्म होता है।

प्रश्न 24 : पञ्चाचारों के नाम एवं स्वरूप ?

उत्तर : आचार्य महाराज जिन पॉच आचारो का परिपालन करते है वे इस प्रकार है–ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार।

(1) ज्ञानाचार–ज्ञान अर्थात् जानना–पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को समझना यह ज्ञान है एव ज्ञान के अनुसार आचरण की ओर प्रवृत्ति करना वह ज्ञानाचार है।

(2) दर्शनाचार–सम्यक् दर्शन का निर्दोष पालन करना यह दर्शनाचार है।

(3) चारित्राचार–सम्यक् चारित्र रूप जो व्रत, समिति, गुप्ति आदि है, उनका सम्यक् पालन केवल बाह्य रूप मे न होकर अन्तरग परिणति भी वैसी निर्मल बने–उसे चारित्राचार कहते है, यदि ऐसा नही तो बाह्य आचारो को केवल शरीराचार ही कहा जायेगा।

(4) तपाचार–द्वादश तपो मे पूर्ण प्रवृत्ति को रखना एव उस तप का फल जो आत्मस्वरूप मे स्थिति या रमणता है वह तपाचार कहलाता है।

(5) वीर्याचार–आत्मा मे जितनी शक्ति है उसके अनुकूल आचरण करना वीर्याचार कहलाता है।

प्रश्न 25 : तीन गुप्तियों के नाम एवं स्वरूप ?

उत्तर : गुप्ति–सम्यक् प्रकार से मन, वचन, काय इन तीन योगो की प्रवृत्ति रोकना, उन्हे सासारिक प्रवृत्तियो से मुक्त कर आत्म–स्वरूप की ओर लगाना अन्तरग गुप्ति कहलाता है। अन्तरग गुप्ति होने पर ही बाह्य गुप्ति कही जाती है। इसका आरम्भ सम्यक् दृष्टि श्रमण से होता है।

गुप्ति तीन प्रकार की होती है–

(1) मनोगुप्ति–मन की स्वेच्छाचारिता का रुक जाना मनोगुप्ति।

(2) वचनगुप्ति–वचन की प्रवृत्ति का रुक जाना वचनगुप्ति है।

(3) कायगुप्ति–शरीर की चेष्टाओ का रुक जाना कायगुप्ति है।

जिस प्रकार बाड खेत की और खाई नगर की रक्षा करते है उसी प्रकार पाप–निरोधक गुप्तियॉ साधु के सयम की रक्षा करती है।

विषयों मे प्रवृत्ति को रोकने के लिए गुप्ति बतलायी गयी है और जो गुप्ति के पूर्णरूप से पालन मे असमर्थ है उनकी प्रवृत्ति सम्यक् बनाने के लिए समिति (सम्यक् प्रवृत्ति) बतलायी गयी है, और समिति में प्रवृत्ति करने वाले मुनि को प्रमाद के परिहार के लिए दस प्रकार का धर्म बतलाया गया है। जिसका पूर्व मे कथन कर दिया है।

प्रश्न 26 : षड् आवश्यकों के नाम एवं स्वरूप ?

उत्तर : "अवश्यमेव करणीयं इति आवश्यकम्"।

षड् आवश्यक – जिनके बिना सम्यक् चारित्र का निर्दोष पालन नही हो सके, उन्हे आवश्यक कहते है। ये सम्यक् चारित्र रूपी धान्य की रक्षा के लिए बाड का कार्य करते है। ये इस प्रकार है–

(1) **समता** – प्राणिमात्र के प्रति समता भाव का रखना। किसी के प्रति द्वेष आदि न रखना एव सदा आत्मा–स्वभाव की ओर दृष्टि रखना, समता भाव कहलाता है।

(2) **वन्दना करना**–तीर्थकर भगवान् के स्वरूप की प्राप्ति के लिए (किसी एक तीर्थकर की) श्रद्धा–भक्ति पूर्वक वन्दना करना।

(3) **स्तुति करना**–चौबीस तीर्थकरो के गुणो की प्रशसा करते हुए स्तुति करना।

(4) **स्वाध्याय, शास्त्र–भक्ति**–सम्यक् ज्ञान रूप श्रुतज्ञान की विशेष प्राप्ति के लिए शास्त्रो का अध्ययन करना।

(5) **प्रतिक्रमण**–प्रमाद से लगे हुए दोषो को निन्दा एवं आलोचना पूर्वक दूर करना, प्रतिक्रमण कहलाता है।

(6) **कायोत्सर्ग**–खडे होकर दोनो हाथो को नीचे की ओर लटका कर पैर के दोनो पजो को एक सीध मे चार अगुल के अन्तराल से रखकर, शरीर से ममत्व छोडकर आत्मा–ध्यान मे लीन होना कायोत्सर्ग है।

प्रश्न 27 : उपाध्याय परमेष्ठी के 25 मूलगुण बताओ ?

उत्तर : उपाध्याय परमेष्ठी सामान्य श्रमण के सभी मूलगुणो का पालन तो हमेशा करते ही है किन्तु विशेष रूप से श्रुतज्ञान से सम्बद्ध उनके पच्चीस मूल गुण होते है, जो द्वादशांग वाणी रूप द्रव्य श्रुत के अध्ययन–अध्यापन के नियत अधिकार से सम्बद्ध होते है।

उपाध्याय परमेष्ठी 11 अग एव 14 पूर्व–रूप द्रव्यश्रुत के अधिकारी विद्वान् होते है। ये ही उनके 25 मूल गुण है, उत्तर गुण अनेक होते है।

प्रश्न 28 : ग्यारह अंगों एवं चौदह पूर्वों के नाम तथा स्वरूप ?

उत्तर : ग्यारह अगो एव चौदह पूर्व, द्रव्य–श्रुतज्ञान के भेद हैं–

"श्रुत का अर्थ होता है सुना हुआ। वीतरागी, सर्वज्ञ, अरहन्त भगवान् के मुखारविन्द से सुना हुआ होने के कारण यह सम्पूर्ण ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। तीर्थंकर अपने दिव्यज्ञान द्वारा पदार्थो का साक्षात्कार करके बीज पदो के द्वारा उपदेश देते है और गणधर उन बीजपदों का और उनके अर्थ का अवधारण करके, उनका ग्रन्थ रूप मे व्याख्यान करते है। यही द्रव्य श्रुत कहा जाता है।

इस द्रव्यश्रुत के अर्थकर्ता तीर्थंकर और ग्रन्थकर्ता गणधर माने जाते है। श्रुतज्ञान की यह परम्परा अनादिकाल से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। भगवान् ऋषभदेव के तीर्थ–काल मे जो श्रुतज्ञान की परम्परा आरम्भ हुई थी, वह भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर के तीर्थ–काल मे भी गतिशील रही। इस युग मे श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के

ब्राह्ममुहूर्त में तीर्थकर महावीर की देशना प्रादुर्भूत हुई और गौतम गणधर ने उसे द्वादशाग रूप मे निबद्ध किया। यही निबद्ध ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है।

मूल मे श्रुत के दो भेद है–'द्रव्यश्रुत' एव भावश्रुत। आप्त भगवान् के उपदेश रूप द्वादशाग वाणी को द्रव्यश्रुत और उससे होने वाले भावज्ञान को भावश्रुत कहते है।

इस प्रकार 'द्रव्यश्रुत' शब्द रूप एव भावश्रुत उस शब्दश्रुत से होने वाले ज्ञान को कहते है। इसी कारण द्रव्यश्रुत एव भावश्रुत को क्रमश ग्रन्थ–रूप श्रुत एव ज्ञान–रूप श्रुत भी कहते हैं। इस ग्रन्थ–रूप श्रुत के मूल में दो भेद है–

(क) अग प्रविष्ट (ख) अग बाह्य।

इनमे से अग वाह्य के चौदह भेद हैं।

एव अग–प्रविष्ट के निम्नलिखित बारह भेद होते है–

(1) आचाराग

(2) सूत्रकृताग

(3) स्थानाग

(4) समवायाग

(5) व्याख्या–प्रज्ञप्ति अग

(6) ज्ञातृधर्म–कथाग

(7) उपासकाध्ययनाग

(8) अन्त कृद्दशाग

(9) अनुत्तरोपपादिक दशाग

(10) प्रश्नव्याकरणाग

(11) विपाक सूत्राग

(12) दृष्टिवादाग।

इनमे से प्रथम ग्यारह अग कहलाते है एव बारहवे अग दृष्टिवाद के पॉच भेद है–

(1) परिकर्म

(2) सूत्र

(3) प्रथमानुयोग

(4) पूर्वगत

(5) चूलिका।

इनमे से परिकर्म के पॉच है–चन्द्रप्रज्ञप्ति, समयप्रज्ञप्ति, जम्बू–दीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर–प्रज्ञप्ति, व्याख्या–प्रज्ञप्ति। सूत्रगत एव प्रथमानुयोग के एक–एक ही भेद है।

पूर्वगत के चौदह भेद है जिन्हे चौदह पूर्व कहा जाता है। ये चौदह पूर्व निम्नलिखित है–

1 उत्पाद पूर्व

2 अग्रायणी पूर्व

3 वीर्यानुवाद पूर्व

4 अस्ति–नास्ति प्रवाद पूर्व

5. ज्ञानप्रवाद पूर्व

6 कर्मप्रवाद पूर्व

7 सत्यप्रवाद पूर्व

8 आत्मप्रवाद पूर्व

9 प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व

10 विद्यानुवाद पूर्व

11 कल्याणवाद पूर्व

12 प्राणावाद पूर्व

13 क्रिया विशाल पूर्व

14 लोकबिन्दु सार।

चूलिका के पॉच भेद है।

1 जलगता

2 स्थलगता

3 मायागता

4 आकाशगता

5 रूपगता।

जैन वाड्मय अत्यन्त विशाल एव परिपूर्ण है। उसमे प्रत्येक विद्या पर समुन्नत साहित्य लिखा गया है। चाहे वह अध्यात्म हो या दर्शन हो, तर्क, न्याय, इतिहास, ज्योतिष, वैद्यक, गणित, खगोल, भूगोल, भाषा छन्द–शास्त्र, निमित्त–शास्त्र, मन्त्र एव तन्त्र आदि कोई भी विद्या हो। क्योंकि प्राचीन परम्परा से यह श्रुत अथवा श्रवण के माध्यम से अर्थात् गुरु–शिष्य परम्परा से अग्रेषित होता चला आ रहा है। बुद्धि की मदता एव धारण–शक्ति की हीनता से यह ज्ञान साहित्य लिखित रूप में गुथित हुआ किन्तु कालान्तर मे हमारी असावधानता एव प्रमाद से उसका बहुभाग काल के गर्त मे समा गया। पर आज भी प्रत्येक विषय पर जितना विपुल साहित्य उपलब्ध है, वह इसकी प्राचीनता, समृद्धता एव समग्रता की ओर दृष्टिपात करने के लिए हमें इगित करता है। अस्तु ग्यारह अग एव चौदह पूर्व जो कि विषय वैविध्य की दृष्टि से समस्त विद्याओ को स्वय में समाहित किए हुए है उन पर विचार करना अत्यन्त सामयिक एव उपयोगी होगा।

ग्यारह अगो मे से प्रत्येक अग एव उराके विषय–भूत विषय का विवेचन प्रस्तुत है–

(1) आचाराग– इसमे श्रमणो के आचार का विशद वर्णन किया गया है। इसमे अठारह हजार पद है।

(2) सूत्रकृताग– इसमे चारित्र रूप व्यवहार धर्म की क्रियाओ का एव स्वसिद्धान्त एव पर–सिद्धान्त का विशद विवेचन किया गया है। इसमे छत्तीस हजार पद है।

(3) स्थानाग– यह अंग जीवादि द्रव्यों का एक से लेकर उत्तरोत्तर एक–एक की संख्या के बढते हुए क्रम से विवेचन करता है। इसमे 42 हजार पद है। जैसे –जीवद्रव्य चैतन्य धर्म की अपेक्षा एक है, ज्ञान एव दर्शन रूप उपयोग के भेद से दो प्रकार है। उत्पाद, व्यय ध्रौव्य की अपेक्षा यह त्रिभेद रूप है। चतुर्गति के भेद से जीव चार प्रकार का है।

(4) समवायाग– यह अग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चार प्रकार के समवाय से सम्पूर्ण पदार्थों का वर्णन करता है। जैसे–काल की दृष्टि से उत्सर्पिणी एव अवसर्पिणी दोनो काल (दस कोडाकोडी सागर स्थिति) समान है। द्रव्य समवाय की दृष्टि से धर्मद्रव्य लोकाकाश एव एक जीव के प्रदेश समान है। भाव की अपेक्षा जीव के क्षायिका सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवल दर्शन और यथाख्यात–चारित्र समान है। क्षेत्र की दृष्टि से नरक के प्रथम पटल का ऋजु विमान और सिद्धशिला इन सबका विस्तार समान है। इसमे एक लाख चौसठ हजार पद हैं।

(5) व्याख्या–प्रज्ञप्ति अग– इस अग मे जीव के अस्तित्व अर्थात् "क्या जीव है अथवा नही" दस विषय पर साठ हजार प्रश्नों का समाधान किया गया है। इसमे दो लाख अट्ठाईस हजार पद है।

(6) ज्ञातृ धर्म कथांग– इस अग में तीर्थकर की धर्मदेशना का, सदेह को प्राप्त गणधर देव के सन्देह को दूर करने की विधि का तथा अनेक प्रकार की कथा–उपकथाओ का वर्णन किया गया है। इसमें पॉच लाख छप्पन हजार पद है।

(7) उपासकाध्ययनाग– दस अग मे श्रावको के आचारो का विशद वर्णन किया गया है। इसमे ग्यारह लाख सत्तर हजार पद है।

(8) अन्त. कृद्दशाग– इस अंग मे प्रत्येक तीर्थकर के तीर्थकाल मे अनेक प्रकार के उपसर्गों को सहन कर निर्वाण को प्राप्त हुए, दस–दस अन्तकृत केवलियो का वर्णन किया गया है। इसमे तेईस लाख अट्ठाईस हजार पद है।

(9) अनुत्तरोपादिक दशांग– इस अग मे प्रत्येक तीर्थकर के तीर्थकाल मे अनेक प्रकार के उपसर्गो को सहन कर पॉच अनुत्तर

विमान में जन्में हुए दस–दस मुनियों का वर्णन किया गया है। इ
बानवे लाख चावालीस हजार पद है।

(10) प्रश्न–व्याकरणांग– इस अग मे आक्षेपणी, विक्षेपणी, सवेद
और निर्वेदनी इन चार प्रकार की कथाओ का वर्णन किया गया
इसमें तिरानवे लाख सोलह हजार पद है।

(क) आक्षेपणी कथा– यह एकान्त दृष्टियो का निराकरण करके
द्रव्यों और नौ पदार्थो का प्ररूपण करती है।

(ख) विक्षेपणी कथा– इसमें प्रमाण नयात्मक युक्ति–युक्त हेतु
द्वारा सर्वथा एकान्तवादी सिद्धान्त का खण्डन कर स्व–सिद्धान्त क
मण्डन किया जाता है।

(ग) सवेदनी कथा– सांसारिक जीवो के सुख–दुःख मय संवेदन
की विशेष व्याप्ति सहित जो कथाएँ होती है उन्हे सवेदनी कथा कहते
हैं।

(घ) निर्वेदनी कथा– पाप के फल का वर्णन करने वाली कथा को निर्वेदनी कथा कहते है। इस अग मे प्रश्न के अनुसार विनाश, चिन्ता, लाभ–हानि, दु ख–सुख, जीवन–मरण, जय–पराजय आदि का भी वर्णन होता है।

(11) विपाक–सूत्राग– इसमे पुण्य और पाप रूप कर्मों के फलो का वर्णन किया गया है। इसमे एक करोड चौरासी लाख पद है।

इस तरह ग्यारह अंगो के समस्त पदो का योग चार करोड पन्द्रह लाख दो हजार है।

(12) 12 वॉ अग– दृष्टिवाद है। इसमे तीन सौ तिरसठ मतो का वर्णन करके उनका निराकरण किया गया है। इसके सम्पूर्ण पदो की सख्या एक अरब आठ करोड अडसठ लाख छप्पन हजार पॉच है।

इस अग के पॉच भेदो मे चौथा भेद पूर्वगत है, जिनके निम्न चौदह भेद किये गये है जो 'चौदह पूर्व' के नाम से जाने जाते है। इनका विषय एव पद–सख्या निम्नलिखित है–

(1) उत्पादपूर्व– यह छ. द्रव्यों की उत्पाद, व्यय एव धौव्य रूप अवस्थाओ का वर्णन करता है। इसकी पद सख्या एक करोड है।

(2) अग्रायणीपूर्व– इसमें सात सौ सुनयों और दुर्नयों का तथा छ. द्रव्य और नौ पदार्थों ओर पॉच अस्तिकायों का वर्णन किया गया है। इसकी पद सख्या छियानवे लाख है।

(3) वीर्यानुवाद पूर्व– इसमे आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य क्षेत्र–वीर्य, कालवीर्य, भववीर्य और तपवीर्य का वर्णन किया गया है। इसकी पद सख्या सत्तर लाख है।

(4) अस्ति–नास्ति प्रवाद पूर्व–इसमे सब द्रव्यो का स्वचतुष्टय से अस्तित्व का एव परचतुष्टय से नास्तित्व का वर्णन किया गया है। इसमे साठ लाख पद है।

(5) ज्ञानप्रवाद पूर्व–इसमे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन:–पर्ययज्ञान एव केवलज्ञान–इन पॉच सुज्ञान एव कुमति कुश्रुत एव कुअवधि इन तीन कुज्ञानो का वर्णन किया गया है। इसकी पद सख्या एक कम एक करोड है।

(6) सत्यप्रवाद पूर्व– इसमे दस प्रकार के सत्य वचन, अनेक प्रकार के असत्य एव बारह प्रकार की भाषाओ आदि का वर्णन किया गया है। इसमे पद सख्या एक करोड छ है।

(7) आत्मप्रवाद पूर्व– इसमे जीव विषयक दुर्नयो का निराकरण करके जीवद्रव्य की सिद्धि की गयी है। इसकी पद सख्या छब्बीस करोड है।

(8) कर्म प्रवाद पूर्व– इसमे अष्ट कर्मो का विशद् वर्णन किया गया है। इसकी पद सख्या एक करोड अस्सी लाख है।

(9) प्रत्याख्यान पूर्व– इसमे प्रत्याख्यान अर्थात् सावद्य वस्तु के त्याग का, उपवास की विधि का और उसकी भावना रूप, पच समिति, तीन गुप्ति का वर्णन किया गया है। इसकी पद सख्या चौरासी लाख है।

(10) विद्यानुवाद पूर्व–इसमे अगप्रविष्ट आदि 700 लघुविद्याओं का, रोहिणी आदि 500 महाविद्याओ का और उन विद्याओं के साधन करने की विधि का, उन विद्याओ के फल का तथा आकाश, भौम, अग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यजन, चिह्न–आठ महानिमित्तो का वर्णन किया गया है। इसकी पद सख्या एक करोड दस लाख है।

(11) कल्याणवाद पूर्व–इसमे सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र तथा तारा गणों के उत्पाद स्थान, गति, विपरीत गति और उनके फलो आदि का तथा तीर्थकर बलदेव, वासुदेव, चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुषों के गर्भावतार आदि कल्याणकों का वर्णन किया गया है। इसकी पद सख्या छब्बीस करोड है।

(12) प्राणवाद पूर्व–इसमे अष्टाग–आयुर्वेद, भूतकर्म (शरीर आदि की रक्षा के लिए भस्म–लेपन, सूत्र–बन्धन आदि कर्म) जागुलिप्रक्तम् (विष) विद्या और श्वासोच्छ्वास के भेदो का विशद वर्णन किया गया है। इसकी पद सख्या तेरह करोड है।

(13) क्रियाविशाल पूर्व–इसमे लेखन आदि बहत्तर कलाओ का, स्त्री सम्बन्धी चौसठ गुणो का, शिल्प–कला का, काव्य सम्बन्धी गुण–दोषो का और छन्द–शास्त्र का वर्णन किया गया है। इसकी पद सख्या नौ करोड है।

(14) लोक बिन्दुसार– इसमे आठ प्रकार के व्यवहारो का, चार प्रकार के बीजो का, मोक्ष को ले जाने वाली क्रिया का और मोक्ष के सुखो का वर्णन किया गया है। इसकी पद सख्या बारह करोड पचास लाख है।

इसके सिवाय दृष्टिवादाग के अन्य भेदो के भी अनेक उपभेद किये गये हैं। इनमे समस्त विद्याओ का ज्ञान समाहित हो जाता है। इसके अतिरिक्त अग बाह्य श्रुतज्ञान के चौदह भेद है, जिनमे आचार शास्त्र का विशद वर्णन किया गया है। (विशद विवेचन अन्य शास्त्रो से जान लीजिए।) इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन वाड्मय प्रत्येक कला के सूक्ष्म एव गूढ विवेचन से समृद्ध है, केवल उसका अन्वेषण एव अध्ययन आवश्यक है।

नोट :– दृष्टिवाद अग को छोडकर शेष ग्यारह अग एव चौदह पूर्व ये सब 25 मिलकर उपाध्याय परमेष्ठी के मूल गुण है।

आगम में पद तीन प्रकार के पाये जाते है– अर्थपद, प्रमाणपद और मध्यम पद। जिसके उच्चारण से किसी वस्तु विशेष का ज्ञान होता है, उसे अर्थपद कहते है। (इसमें अक्षरो की सख्या अनियत है) जैसे–धर्म अनेकान्तात्मक है। 'गुणो की पूजा सर्वत्र होती है'। अनुष्टुप् आदि छन्दो के अष्ट आदि अक्षरो से बने हुए पद को प्रमाणपद कहते हैं। जैसे–''नमः श्री वर्धमानाय'' आदि। यह दोनो पद इस लोक मे प्रसिद्ध है, परन्तु जिस माध्यम पद के माध्यम से समस्त द्वीप–समुद्रों का विवेचन किया जाता है, उस मध्यम पद के अक्षरों की सख्या 16348307888 है, एव पूर्वों मे इसी मध्यम पद का विवेचन है।

प्रश्न 29 : साधु परमेष्ठी के अट्ठाईस मूल गुण किस प्रकार होते हैं ?

उत्तर : पॉच महाव्रत

पॉच समिति

पचेन्द्रिय विजय

षड् आवश्यक

सप्त शेष गुण।

प्रश्न 30 : पंच महाव्रतों के नाम एवं स्वरूप ?

उत्तर : महाव्रत–निश्चय सम्यक् चारित्र की प्राप्ति के लिए पॉच पापो के पूर्ण रूप से परित्याग को महाव्रत सम्यक् चारित्र कहते है।

सम्यक् चारित्र की उत्पति सम्यक् दर्शन एव सम्यक् ज्ञान पूर्वक ही होती है। इसके बिना जो चारित्र है, वह मिथ्या चारित्र कहलाता है। महाव्रत रूप चारित्र धारण करने का मूल प्रयोजन राग–द्वेष की निवृत्ति करना है, क्योकि इन्ही से प्रेरित होकर प्राणी विभिन्न प्रकार से मिथ्यात्व, कषाये एव अज्ञानभाव है। अत इनको दूर करने के लिए

सम्यक् दर्शन एव सम्यक् ज्ञान पूर्वक जो चारित्र धारण किया जाता है उसे ही सम्यक् चारित्र कहते हैं। महाव्रत के पॉच भेद हैं–

1 अहिसा महाव्रत– आत्मा मे राग–द्वेष आदि विकारों की उत्पत्ति न होने देना ही वास्तविक महाव्रत है और बाह्य मे इसकी पूर्णता मे सहायक षट्काय के जीवो की मन, वचन एव काय से विराधना न करना एव उनकी दु ख की उत्पत्ति मे स्वय हेतु न बनना, अहिसा महाव्रत कहलाता है।

2 सत्य महाव्रत– कषाय माया या स्वार्थ के वशीभूत असत्य वचन न बोलना, सत्य महाव्रत है। वास्तव मे पदार्थों का यथावत् श्रद्धान एव उसका उस रूप ही विवेचन करना सत्य महाव्रत है। विचार में, वाणी मे एव आचरण मे सत्य का होना ही वास्तविक सत्य है। इसकी भी पूर्णता कषायो एव अज्ञान के पूर्ण परित्याग के बिना सम्भव नही। यथार्थ में ये दो कारण ही असत्य बोलने के हेतु है।

3 अचौर्य महाव्रत– बिना दिये हुए किसी भी प्रकार के पदार्थ एव उपकरण का ग्रहण न करना अचौर्य महाव्रत है। "पर पदार्थ मेरा है" इस प्रकार के ममत्व भाव का पूर्ण रूप से मन, वचन एव काय से त्याग करना सो अचौर्य महाव्रत है। इस व्रत की पूर्णता भी पदार्थों के यथार्थ श्रद्धान्, ज्ञान एव स्पष्ट भेद–विज्ञान के बिना नही हो सकती।

4 ब्रह्मचर्य महाव्रत– मन–वचन और काय से स्त्री–विषय एव कषायो का त्याग एव आत्म–स्वरूप मे स्थित करना ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

5 अपरिग्रह महाव्रत–अपने शुद्ध आत्मा–स्वरूप की प्राप्ति के लिए इस प्रकार के बाह्य परिग्रह से बुद्धिपूर्वक स्वय को मोडना एव चौदह प्रकार के अतरग परिग्रह के त्याग के लिए पुरुषार्थ पूर्वक, मिथ्यात्व, कषाय एव ममत्व का परित्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।

प्रश्न 31 : पाँच समितियों के नाम एवं स्वरूप ?

उत्तर : समिति-प्रमाद रहित सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते है। प्रत्येक व्यक्ति केवल पॉच ही काम करता है। चलना, बोलना, खाना,

उठना, रखना एव क्षेपण (उत्सर्ग) करना। ये ही पॉच कार्य सदा चलते रहते हैं। समिति के भी पॉच भेद होते हैं। समिति प्रत्येक चर्या में यत्नाचारिता, सावधानी अथवा जागरूक प्रवृत्ति को दर्शाती है।

1 ईर्या समिति–सूर्य के आलोक में प्रासुक मार्ग से (जिस मार्ग पर पहले से आवागमन शुरू हो चुका है) चार हाथ आगे की भूमि को देखते हुए जीवों की विराधना न करते हुए गमन करना ईर्या समिति है।

2 भाषा समिति–आवश्यक प्रामाणिक हित, मित एवं प्रिय वचन बोलना, जो निरर्थक, मर्मभेदी, सन्देहास्पद एव पाप से रहित हो, भाषा समिति है।

3 एषणा समिति–सूर्योदय के दो घडी पश्चात् या सूर्यास्त के दो घडी पहले तक श्रद्धा एव भक्ति से कुलीन श्रावक द्वारा नवधा भक्ति पूर्वक दिये गये छियालीस दोष एव बत्तीस प्रकार के अन्तराय रहित निर्दोष आहार को ग्रहण करना एषणा समिति है।

4 आदान–निक्षेपण– मयूर–पिच्छिका, कमण्डलु एवं स्वाध्याय के हेतु शास्त्र आदि उपकरणो को ऑखो से देखकर सावधानी पूर्वक प्रमार्जित करके उठाना और रखना आदान–निक्षेपण समिति है।

5. प्रतिष्ठापना या उत्सर्ग समिति–हरित (गीली) वनस्पति एव त्रस जीवो से रहित भूमि पर मल–मूत्र विसर्जन करना प्रतिष्ठापना या उत्सर्ग समिति है।

इन पॉच समितियो एव तीन गुप्तियो को अष्ट प्रवचन मातृकाएँ (आठ प्रवचन माताएँ) कहते है। ये आठो माताएँ मुनि के रत्नत्रय रूप धर्म का रक्षण करती है।

प्रश्न 32 : पंचेन्द्रिय का निरोध अथवा पंचेन्द्रिय–विजय का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर : पचेन्द्रिय विजय का इन्द्रिय–विजय के लिए उनके विषयभूत विषयो का मन, वचन एव काय से सम्यक् परित्याग करना पचेन्द्रिय–विजय है।

प्रत्येक इन्द्रिय की विषय–वासना अनन्त है। एक के बाद एक लगातार विषय–वासना की इच्छा बढती ही चली जाती है। चक्रवर्ती सम्राट् की विभूति भी इन्द्रियो के विषय के सामने नगण्य है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्द्रिय–विषयो की सतत् पूर्ति, उनकी शान्ति का समीचीन मार्ग नही है बल्कि अपनी इच्छाओ का परिसीमन ही सुख–शान्ति का यथार्थ सुपरीक्षित मार्ग है। यही कारण है कि श्रमण सन्त जन इन्द्रियो की विषय तृप्ति न कर विषय–तृष्णा का सम्यक् निरोध करते है।

एक–एक इन्द्रिय विषय की तृप्ति के लिए प्राणी अपना जीवन उत्सर्ग कर देते है। कुजर (हाथी), मीन, मधुप (भौंरा), शलभ (पतंगा) एव मृग (हिरण) इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

1 स्पर्शन इन्द्रिय विजय –आठ प्रकार के स्पर्शों मे राग–द्वेष नही करना ।

2 रसना इन्द्रिय विजय –पॉच प्रकार के रसो मे राग–द्वेष नही करना ।

3 घ्राण इन्द्रिय विजय–सुगन्ध और दुर्गन्ध मे राग–द्वेष नही करना ।

4. चक्षु इन्द्रिय विजय– चक्षु इन्द्रिय से दिखाई देने वाले वर्णों (रंगों) मे राग–द्वेष का परित्याग करना ।

5 श्रवण इन्द्रिय विजय–प्रिय एवं अप्रिय स्वरो मे राग–द्वेष का अभाव होना।

प्रश्न 33 : साधु परमेष्ठी के षड् आवश्यक कार्य बताओ ?

उत्तर · कृपया आचार्य के षट् आवश्यक देखिए (प्रश्न 26)।

प्रश्न 34 : श्रमण के सप्त शेष गुण कौन–कौन से हैं? उनका क्या स्वरूप है ?

उत्तर : श्रमण साधु के सप्त शेष गुण निम्नांकित है–

1 आचेलक्य

2 अस्नान

3 अदन्तधावन

4 एकाहार

5. स्थित्याहार (खडे–खडे आहार लेना)

6 भूशयन

7 केशलुचन।

इन सप्त शेष गुणों की विवेचना निम्न प्रकार है।

1. आचेलक्य – आतरिक विकारो की चरम शान्ति हो जाने पर नग्न रहना उसकी बाह्य प्रतिच्छाया मात्र है। महाश्रमण दिगम्बर साधु का जीवन एक खुली किताब है, जिसका प्रत्येक पृष्ठ स्वय मे पूर्ण एव स्पष्ट होता है। निर्विकार अवस्था मे नग्नत्व अनिवार्य है। बालक के समान निर्विकार, निश्चल मुद्रा ही वीतरागता का दिग्दर्शन कराती है।

2. अस्नान – स्नान बाह्य शुद्धि का आशिक साधन है किन्तु जो आन्तरिक विकारो की शुद्धि की ओर प्रवृत्त है वे बाह्य शुद्धि की ओर कैसे प्रवृत्त हो सकते है ?

धूप स्नान ही उनकी बाह्य शुद्धि का सर्वोत्तम साधन है जो विकारों की शान्ति के साथ–साथ शरीर के रोग आदि की शान्ति के लिए भी प्राकृतिक एव प्रामाणिक औषधि है। उनका शरीर वैराग्य की साकार प्रतिमा होने पर ही अन्य रागी मानवो के मन में विरागता का भाव लाने मे समर्थ हो सकता है।

3 अदन्तधावन – वीतरागता के उपासक दिगम्बर श्रमण दिन मे मात्र एक बार निर्दोष सात्विक रस–रहित आहार एव गरम प्रासुक् जल ग्रहण करते है तथा भोजन के पश्चात् गरम जल से मुँह साफ करते है जिससे अन्न के कण एव दॉतो का मल पूर्ण रूप से बाहर निकल जाता है। अत उन्हे दन्त धावन की कोई आवश्यकता नही रहती।

4 एकाहार – दिवस मे एक बार आहार लेना ।

5 स्थित्याहार – खडे होकर आहार लेना ।

आत्मा एव शरीर भिन्न–भिन्न है। इस भेद विज्ञान को स्वीकार

करने वाला श्रमण शरीर से वास्तविक निर्ममत्व को प्रगट करने के लिए स्वयं आदर्श होता है। उस आदर्श की अभिव्यक्ति उसके जीवन मे न आये ऐसा सम्भव ही नही।

अत दिन मे एक बार खड़े–खड़े पाणि–पात्र में निर्दोष एव सात्विक आहार ग्रहण करना उनकी वीतरागता की सच्ची उपासना को दर्शाता है।

6. भूशयन – समता का साकार महासमुद्र प्रतिकूल परिस्थितियों मे भी अपनी परमसत्य की साधना को अबाधित रूप मे गतिमान रखते हुए साध्य की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। इसकी ओर इगित करते हुए समता एव क्षमा का यह अपूर्व सम्मिलित जन–जन के मन मे वीतरागता का भाव जाग्रत् कर देता है।

"भवन एवं श्मशान जिनकी दृष्टि मे है समान" ऐसे श्रमण निर्जन, शान्त वनोभूमि पर एक करवट से अल्पकाल तक शयन करके फिर से षड् आवश्यक परिपालन करने में तल्लीन हो जाते है।

7 केशलुचन – आन्तरिक विकारो की शुद्धि मे लगा हुआ श्रमण साधक बाह्य विकारों को भी निर्मोह भाव से समाप्त कर देता है। इसका प्रतीक यह केशो का हाथ से उखाड देना है जो पूर्ण स्वतंत्र जीवन–दर्शन का आदर्श स्वरूप है।

अत ये सप्त शेष गुण श्रमण–सस्कृति की निजी विशेषता है जो सत्य साधक की सत्य–साधना मे "मील के पत्थर की भाँति" विकारो के शमन के परिचायक है।

परम सत्य की प्राप्ति के लिए निकलने वाला पथिक बाह्य उलझनो मे कदापि लिप्त नही रह सकता। उसका जीवन तो सहज प्राकृतिक एव निर्बाध होना चाहिए। आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वीकार करने वाला महामानव शरीर की परतन्त्रता कैसे स्वीकार कर सकता है।

यही कारण है कि दिगम्बर श्रमण सस्कृति मे दीक्षित सन्त सम्पूर्ण प्रतिकूल सामग्री का पूर्ण रूप से त्याग कर देते है, जो आत्मा–शान्ति की प्राप्ति मे बाधक होता है।

प्रश्न 35 : णमोकार मन्त्र को किसने बनाया है ?

उत्तर : णमोकार मन्त्र स्वय सिद्ध–मन्त्र है। इसे किसी ने बनाया नहीं है। 'मन्त्र' शब्द मनु धातु मे प्रत्यय लगा कर बनाया गया है। इसकी निरुक्ति निम्न तीन प्रकार से की जा सकती है।

1. "मन्यते ज्ञायते देशोऽनेन इति मन्त्र" अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा का आदेश निजानुभव जाना जाये वह मन्त्र है।

अथवा

2. "मन्यते विचार्यते आत्मादेशो येन स मन्त्र" अर्थात् जिसके द्वारा आत्मादेश पर विचार किया जाये वह मन्त्र है।

अतः जिसके द्वारा परमपद मे स्थित पचपरमेष्ठियो सदृश निज आत्मा की अनुभूति रूप ध्यान द्वारा परमपद (मोक्ष) को प्राप्त किया जाये वह मन्त्र है।

णमोकार मन्त्र अनादिनिधन मन्त्र है। यह अनादि मन्त्र इसलिए कहते हैं क्योकि जिन पचपरमेष्ठियों को इसमे नमस्कार किया गया है वे अनादि है। दूसरा कारण यह है कि प्रत्येक तीर्थकर के कल्पकाल में इसका अस्तित्व रहता है। प्रत्येक कल्पकाल मे होने वाले तीर्थकर के द्वारा इसके अर्थ का और उनके गणधरो के द्वारा इसके शब्दो का निरूपण किया जाता है। इस प्रकार तीर्थकरो की परम्परा और गुरु–परम्परा से यह अनादिकाल से चला आ रहा है। अत. स्पष्ट है कि अर्थ–परम्परा से यह मन्त्र अनादि निधन है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार शब्द रूप मे इस मन्त्र का व्याख्यान एव प्रणयन, प्रत्येक कल्पकाल मे अवश्य होता है। पर, दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस मन्त्र का कोई नवीन रचयिता नही है। मात्र इसके व्याख्याता ही पाये जाते है।

वास्तव मे सर्वज्ञ तीर्थकर भगवान् ने अपनी दिव्य ध्वनि से जिन तत्वो का प्रकाशन किया, गणधरदेव ने उन्हे द्वादशाग वाणी का रूप दिया। अतएव अनादि द्वादशाग वाणी का अग होने से यह महामन्त्र अनादि है।

प्रश्न 36 : णमोकार मन्त्र के जाप और चिन्तन से क्या लाभ है ?

उत्तर : णमोकार मन्त्र के जाप और चिन्तन से निर्विघ्न रूप से अचिन्त्य, निराबाध, शिवसुख की प्राप्ति होती है। इस मन्त्र के जाप से समस्त पाप समाप्त होकर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इसके जप एवं चिन्तन से जिस उत्कृष्ट पुण्य का सचय होता है वह अनेक प्रकार की लौकिक विभूतियो के साथ मोक्ष मार्ग की साधना में साधक को सहायता प्रदान करता है। इस मन्त्र का जाप एव उच्चारण साधक को रत्नत्रय गुण से विभूषित आत्माओ के अधिक समीप ले जाता है।

उनके गुणो के चिन्तन से मन एकाग्र होता है। अत· चरम साधना से शुक्ल–ध्यान पूर्वक आत्मा–ध्यान की सिद्धि हो जाती है। तथा धर्म मे परम उत्कृष्ट सिद्ध पद की प्राप्ति होती है। इस मन्त्र मे अद्‌भुत शक्ति निहित है जो भूत, पिशाच, डाकिनी, सर्प, सिह, अग्नि एव हलाहल विष आदि लौकिक बाधाओ को स्मरण मात्र से क्षण मात्र मे ही समाप्त कर देती है।

णमोकार मन्त्र का सही उच्चारण तीन श्वासोच्छ्‌वास मे करना चाहिए। प्रथम श्वास छोडते समय 'णमो अरहन्ताणं' एव श्वास ग्रहण करते समय 'णमो सिद्धाण' पुन· श्वास छोडते समय 'णमो आइरियाण' एव श्वास ग्रहण करते समय 'णमो उवज्झायाण' एव पुन श्वास छोडते समय 'णमो लोए' एव श्वास ग्रहण करते समय 'सव्वसाहूण'। इस प्रकार तीन श्वासोच्छ्‌वास मे एक बार णमोकार मन्त्र का सही उच्चारण होता है।

प्रश्न 37 : णमोकार मन्त्र का जाप कैसे किया जाये ?

उत्तर : णमोकार मन्त्र के जाप करने की तीन विधियॉ है–

(क) कमल जाप, (ख) हस्तागुलि जाप एव (ग) माला जाप

जाप – "जाप" प्रतीक के रूप मे मन, वचन एव काय से कृत, कारित, अनुमोदन द्वारा समरम्भ, समारम्भ, आरम्भ पूर्वक क्रोध, मान,

माया और लोभ इन चार कषायो की पुट होने से इनके परस्पर संगुणन द्वारा प्राप्त 108 प्रकार के पापो का स्मरण दिलाकर उनके नाश के लिए की जाती है–

(3 × 3 × 3 × 4 = 108)

जाप करने से हमारे अन्दर विशुद्धता आती है। इससे चचल मन की एकाग्रता होने से पापो का क्षय एव आत्मध्यान की सिद्धि होती है।

1. कमल जाप : अपने हृदय मे आठ पॉखुडी के कमल का चिन्तन करे। इसकी पॉखुड़ी पर पीत वर्ण के बारह–बारह बिन्दुओ का चिन्तन करें तथा मध्य के गोल वृत्त कर्णिका में बारह बिन्दुओ का चिन्तन करें आठ पॅखुडी एव एक कमल के मध्य के गोल स्थान पर बारह–बारह बिन्दुओ को रखें। इन 108 बिन्दुओ के प्रत्येक बिन्दु पर एक–एक बार णमोकार मन्त्र का जाप करे। कमल की आकृति बनने के कारण ही यह जाप कमल जाप कहलाता है।

2. हस्तांगुलि जाप : इस जाप में पहले दाहिने हाथ की मध्यमा (बीच की अॅगुली के मध्य पौरा) पर णमोकार मन्त्र को पढे। फिर उसी अंगुली के ऊपरी पौरा पर, फिर क्रमश· तर्जनी के ऊपर, मध्य एवं निचले पौरा पर, फिर मध्य अगुली के निचले पौरुये पर, फिर अनामिका के साथ वाली अगुली के, क्रमश निचले, मध्य एव ऊपर के पौरुये पर एक–एक णमोकार मन्त्र को पढते हुए ओ॑म् (ॐ) के प्रतीक के रूप आकृति बनाते हुए नौ बार णमोकार मन्त्र पढे। यही क्रम पुन. बारह बार दुहराये। इस तरह 12×9 = 108 इस प्रकार से णमोकार मन्त्र का जाप करने मे एक अगुली जाप पूरा होता जाता है।

3. माला जाप : तृतीय जाप माला जाप है। इसमे 108 बार णमोकार मन्त्र का शुद्ध उच्चारण करते हुए जाप किया है।

जाप का मूल लक्ष्य चित्त की एकाग्रता को प्राप्त कर ध्यान की सिद्धि करना है। जाप की उपयुक्त विधियो के अलावा पूज्य आचार्य विद्यासागर जी की बतायी हुई विधि आत्म–सिद्धि मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव सहायक है। अत उसे भी यहॉ दिया जा रहा है।

शान्त एकान्त स्थान या मन्दिर मे सुखासन अथवा पदासन से कमर को सीधा करते हुए बैठ जाइए एव ऑखो को बन्द कर लीजिए एव अब एक कल्पित घडी की ओर दृष्टि डालते हुए बारह के अक पर रुक जाइए। अब णमोकार मन्त्र का तीन श्वासोच्छ्वास पूर्वक मन मे शुद्ध उच्चारण कीजिए और एक बार उच्चारण हो जाने पर एक के अंक पर दृष्टि डालिए। पुन. यही क्रम दुहराते हुए क्रमश 2,3,4,5,6,7,8,9,10,11,12, इस तरह से 12 के अक तक आइए। पुन इसी क्रिया को नौ बार कीजिए। इस तरह 12 × 9 = 108 । इस प्रकार णमोकार मन्त्र की एक माला पूर्ण हो जाती है।

इन नौ अंको की स्मृति आसानी से मन मे रखी जा सकती है। इस प्रकार जाप में मन विशेष रूप से एकाग्र हो जाता है।

मन को अधिक एकाग्र करने के लिए णमोकार मन्त्र के प्रत्येक पद को घडी के एक–एक मिनिट वाले अक को दृष्टि मे रखते हुए पढा जा सकता है। इस तरह से मन अन्य समस्त बाह्य विकारो एव चिन्ताओ से निवृत्त होकर मन्त्र के जाप मे तल्लीन हो जाता है।

नोट : णमोकार मन्त्र के प्रत्येक पद का उच्चारण करते हुए जिस पद मे जिनका नाम आता है, उन्हे भाव नमस्कार करते जाये, तभी चित्त की एकाग्रता तथा ध्यान की सिद्धि सम्भव है।

जाप करने के पश्चात् विशुद्ध, प्रफुल्ल मन से, जिनेन्द्र भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करते हुए उनके चरणो मे द्रव्य एव भाव दोनो प्रकार से नमस्कार करना चाहिए।

इस मन्त्र के उपास्य देवता उत्कृष्ट परम मगलमयी आत्माएँ, जिनक स्मरण–मात्र से मन पवित्र हो जाता है, दूसरे समस्त वासनाएँ, मानसिक उद्वेग एव मानसिक विकार क्रमश क्षीण होकर समाप्त हो जाते है । इससे मानव अपने शुद्ध–स्वरूप की प्राप्ति की ओर अग्रसर होकर परमात्म पद को प्राप्त कर लेता है।

अत णमोकार मन्त्र न केवल लौकिक अपितु पारलौकिक लक्ष्य धर्म की प्राप्ति करता है।

प्रश्न 38 : धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर : धर्म शब्द का निरुक्ति अर्थ है, **"धरतीत धर्मः"**। अर्थात् जो ससार के दु:खो से निकालकर उत्तम सुख में धारण कराये, वह धर्म है। पर धर्म शब्द का वाच्यार्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म है। आचार्य सोमदेवसूरि ने अपने नीतिवाक्यामृत मे धर्म का लक्षण देते हुए लिखा है–

"यतोऽभ्युदयनिः श्रेयसो सिद्धिः सः धर्मः।"

अर्थात् जिससे लोक–कल्याण एव दु:खो की आत्यन्तिक (सर्वथा) निवृत्ति हो उसे धर्म कहते है।

यह परिभाषा धर्म के सामाजिक पक्ष की ओर भी इगित करती है। वास्तव मे मानव–जीवन सदा गतिशील बनाये रखने के लिए एव ऐहिक और पारलौकिक जीवन के परम इष्ट की प्राप्ति मे प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहायक तत्त्व को धर्म कहते हैं।

आचार्यों ने धर्म की व्याख्या अनेक प्रकार से की है। पूज्य कुन्दकुन्दाचार्य "वत्थु सहावो धम्मो" पदार्थ के स्वभाव को ही धर्म कहते हैं। अत: आत्मा का ज्ञाता, द्रष्टा रूप स्वभाव ही उसका धर्म है। कुछ आचार्य उत्तम क्षमादि रूप दस धर्मों को धर्म कहते है। कही 'चारित्तं खलु धम्मो' आत्मा की शुद्ध परिणति रूप चारित्र को धर्म कहते है। कुछ आचार्य जीवदया को ही धर्म कहते हैं। स्वामी कार्तिकेय ने 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में इन समस्त लक्षणों को सूत्ररूप में निबद्ध करते हुए लिखा है कि –

धम्मो वत्थुसहावो, खमादिभावो व दसविहो धम्मो।
चारित्तं खलु धम्मो, जीवाणं रक्खणं धम्मो ।।

श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य ने द्विविध–रत्नत्रय धर्म को ही धर्म कहा है।

यदि विचार किया जाये तो सभी लक्षण वस्तुगत किसी स्वभाव विशेष की ओर ही संकेत करते है। अत यदि धर्म का समीचीन एव कलानिरपेक्ष लक्षण बनाया जाये तो वह होगा –

"वत्थु सहावो धम्मो।"

अतः आत्मा के शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव की पूर्ण प्राप्ति में जो तत्त्व तथा क्रियाएँ सहायक हो वे सभी धर्म कहे जाते हैं।

प्रश्न 39 : धर्म की प्राप्ति किन-किन के माध्यम से होती है ?

उत्तर : धर्म की प्राप्ति सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु के माध्यम से, स्वरूप के आलम्बन लेने से होती है।

भारतीय मुनियो ने मानव–जीवन के क्रमिक विकास के लिए मोक्ष को साध्य के रूप मे एव धर्म, अर्थ एव काम इन तीन पुरुषार्थों को साधन के रूप मे स्वीकार किया है। उन्होने धर्म को इन चार पुरुषार्थ की श्रृखला मे प्रथम स्थान दिया है। इसका कारण स्पष्ट है कि धर्म–मानव के समस्त नैतिक, आर्थिक, सामाजिक एव आध्यात्मिक जीवन को प्रभावित करता है। जिनका जीवन धर्ममय है, उनका अर्थ एव काम भी परम्परा से मोक्ष की सिद्धि मे सहायक होता है जो कि जीवन का एकमात्र परम लक्ष्य है, जिनका व्यावहारिक जीवन चारित्रमय, नियमबद्ध एव आत्मनिष्ठ नही है उनके जीवन मे परम सत्य की अनुभूति 'स्वानुभूति' कदापि नहीं हो सकती। भूमि शुद्धि के बिना बीज से अकुर नही निकल सकता।

इस धर्म की प्रेरणा हमे उन्ही से प्राप्त हो सकती है जिन्होंने उत्कृष्ट सत्य की प्राप्ति स्वय कर ली है एव जो उन्ही के पद चिह्नो पर चलते हुए उस परम तत्त्व सत्य की साधना मे तल्लीन है। अत यथार्थ धर्म की प्राप्ति हमे सच्चे देव, सच्चे गुरु एव उनके मुख से निकली हुई कल्याणमयी द्वादशाग वाणी अर्थात् सच्चे शास्त्रो के द्वारा ही हो सकती है।

प्रश्न 40 : क्या खोटे देव, शास्त्र, गुरु भी होते हैं ?

उत्तर : जी हॉ, खोटे देव, शास्त्र और गुरु होते है।

प्रश्न 41 : खोटे देव किन्हें कहते हैं ?

उत्तर : जिनमें विकारों की परिसमाप्ति नही हुई है, जो जन्म, मरण, जरा आदि ससारिक उपाधियो एवं बाह्य सरागों तथा विभिन्न अस्त्र–शस्त्रो के सहित पर पदार्थों मे इष्ट–अनिष्ट की बुद्धि रखने वाले हैं । जगत् के कर्त्ता–धर्त्ता माने जाते है, ऐसे समस्त देवताओ को कुदेव कहा जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता मे देव के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन करते हुए कहा गया है–

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्म–फल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ।।
नाऽदत्ते कस्यचित् पाषं न कस्य सुकश्तं विभु.।
अज्ञानेनावश्तं ज्ञानं तेनमुह्यन्ति जन्तवः ।। (अध्याय 5)

ईश्वर लोक का कर्त्ता नही है, न प्राणियो के कर्मों को रचता है, न कर्मफल रूप सयोग को करता है, किन्तु लोक की प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप से ही हो रही है। ईश्वर न किसी के पाप को लेता है, न किसी के पुण्य को । वास्तव मे अज्ञान से दूषित प्राणियो का ज्ञान हो रहा है, जिससे कि ये प्राणी परवस्तु मे मोहित हो रहे है। इससे स्पष्ट है कि उपर्युक्त स्वभाव से विरुद्ध स्वभाव वाले समस्त देव कुदेव है।

कुदेवो के सेवन से इस प्राणी का अनादिकालीन मिथ्यात्व पुष्ट होता है एव वर्तमान जीवन की समाप्ति गलत मार्ग मे रहते हुए ही हो जाती है जिससे अनन्त ससार के दु खो को भोगना पडता है।

प्रश्न 42 : खोटे शास्त्र किन्हें कहते हैं ?

उत्तर : कुदेवो द्वारा सृजित एवं विषयाभिलाषी ससारी जीवो के द्वारा अपने विषय–कषायो की पुष्टि के लिए लिखे गये ससार के मार्ग को बताने वाले समस्त शास्त्र कुशास्त्र है। जिनमे पदार्थ के यथावत् स्वरूप का विवेचन न कर कषायो के वशीभूत एकान्त मार्ग को स्वीकार कर, अनेकान्त तत्त्व की स्याद्वाद पद्धति का विलोपन किया गया है। जिन

शास्त्रो मे जीव हिसादि पापो का धर्म के छल से विवेचन किया गया है, जो प्रत्यक्ष एव परम्परा से ससार मे दु ख दिलाने के निमित्त भूत है, जिनसे जीवो का अनादिकालीन मिथ्यात्व भाव पुष्ट हो जाता है एव स्व–स्वरूप की प्राप्ति अत्यन्त कठिन हो जाती है ऐसे समस्त शास्त्र कुशास्त्र कहलाते है।

प्रश्न 43 : खोटे गुरु किन्हें कहते हैं ?

उत्तर : जो विषय–भोगो मे आसक्त होकर, कषायवश यश–कीर्ति एव पूजादि की लालसा से, कुतप तपते हुए विभिन्न प्रकार के खोटे लिंग धारण किये हुए है वे सभी कुवेषी, कुगुरु कहलाते हैं । जो स्वयं सत्य के प्रकाश से वचित, मिथ्या–दर्शन से भ्रमित एवं मिथ्यामार्ग में रत हैं तथा जिनकी निरपेक्ष एकान्त ऑखो के सामने से स्याद्वाद रूपी सत्य ओझल हो गया है, ऐसे विषय लोलुपी राग–द्वेषादि विकारी भावों के सहित मिथ्याचारी, ख्याति लाभ की उत्कृष्ट चाह रखने वाले भव समुद्र से तैरने के लिए उपल अर्थात् पत्थर की नाव की तरह गुरु खोटे गुरु कहलाते हैं।

इनके सम्बन्ध मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने दर्शन पाहुड में लिखा है कि–

जे दंसणेसु भट्टा णाणे भट्टा चरित्त भट्टा य ।
एदे भट्ट वि भट्टा सेसं पि जणं विणासन्ति ।।

जो दर्शन से भ्रष्ट हैं, ज्ञान से भ्रष्ट है, चारित्र से भ्रष्ट हैं वे जीव भ्रष्ट से भ्रष्ट है। और जो भी जीव उनका उपदेश मानते है उन जीवो का भी नाश करते है, बुरा करते है।

उसी दर्शन पाहुड मे भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है कि–

एक्कं जिणस्स रूवं विदियं उक्किट्ठसावयाणं तु ।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिंगदंसणं णत्थि ।।

एक तो जिन स्वरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिग, दूसरा उत्कृष्ट

श्रावको का रूप, दसवीं–ग्यारहवी प्रतिमाधारी क्षुल्लक ऐलक का लिंग, तीसरा आर्यिकाओ का लिंग, ऐसे यह तीन लिंग तो श्रद्धान पूर्वक हैं तथा चौथा कोई लिग सम्यक्दर्शन स्वरूप नही।

भावार्थ– इन तीन लिग के अतिरिक्त अन्य लिग धारण करने पर जो निर्ग्रन्थ मुनि को स्वत प्राप्त होती है ऐसी कीर्ति एवं पूजा प्रभावना चाहते है वे भी सत्य पथ से दूर रहेगे और उनको सत्य गुरु के रूप मे स्वीकार करने वाले भी सत्य से वचित ही रहेगे।

इस प्रकार स्पष्ट है कि कुगुरु अपना अकल्याण तो करते ही हैं किन्तु भावसमुद्र के पार होने के इच्छुक व्यक्ति को भी अपने ससर्ग मे आने पर 'उपल नाव' उसे ले डूबते है।

प्रश्न 44 : सच्चे देव किन्हें कहते हैं ?

उत्तर : सर्वज्ञ, वीतराग और हितोपदेशी देव को सच्चे देव कहते है। जिन्होने स्वय के राग–द्वेषादि विकारो भावो को तप एव ध्यान के द्वारा पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया है, जिसके फलस्वरूप तीन लोक के समस्त पदार्थो को युगपत् यथार्थ स्पष्ट रूप से जानने वाला केवलज्ञान प्रकट हुआ है एव जिनके मार्ग का अनुगमन करने पर हम भी अपने शुद्ध स्वरूप को नियम से प्राप्त कर सकते है ऐसे वीतरागी, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी देव को नियम से प्राप्त कर सकते है। उनका नाम कुछ भी हो, भारतीय मनीषी निष्पक्ष हृदय से देव का वर्णन करते हुए लिखते है कि–

भव–बीजांकुर–जनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ।।

ससार परिभ्रमण के बीजाकुरो को उत्पन्न करने अर्थात् ससार के कारण राग–द्वेषादि रूप मलिन भाव जिनके नष्ट हो चुके उस परम प्रभु को मेरा नमस्कार हो, फिर उसका नाम ब्रह्मा हो या विष्णु हो, महेश हो या जिन जिनेश्वर हो।

प्रश्न 45 : सच्चे शास्त्र किन्हें कहते हैं ?

उत्तर : जिनेन्द्र वाणी के अनुसार, जिन लिंगधारी तत्त्व और स्याद्वाद रूप शैली से विभूषित आचार्य, उपाध्याय या साधुओ के द्वारा सदा कषाय एव पक्षपात से रहित विद्वानो के द्वारा रचित शास्त्र (आगम) सच्चे शास्त्र कहलाते है।

परम सत्य को प्राप्त करते हुए सत्य भगवान् द्वारा कही गयी वाणी का सकलन ही सत्य शास्त्र कहा जाता है।

जिस शास्त्र के निहित मार्ग पर सम्यक् रूप से चलने से ससार के परिभ्रमण से मुक्ति चाहने वाला साधक अपनी पूर्ण स्वतन्त्र दशा को प्राप्त कर सकता है, उसे सत्य–शास्त्र कहते है। निश्चित ही ऐसे शास्त्र मे विश्व का एवं स्वय अपनी आत्मा का यथार्थ सत्य स्वरूप ही निबद्ध किया गया होगा। विश्व का चरम आश्चर्य "मै कौन हूँ" इस प्रश्न का यथार्थ समाधान एव उसकी प्राप्ति का यथार्थ मार्ग उसमे वर्णित किया गया होगा। ऐसा शास्त्र–पक्ष व्यामोह से रहित, सत्यार्थ देव द्वारा कहा गया, गणधर द्वारा प्रसारित, परम्पराबद्ध आचार्यो एव विद्वानो द्वारा लिखित तत्त्व के त्रिकालबाधित यथार्थ–स्वरूप का दर्शन कराने वाला सत्य मार्ग उपदेशक एव मिथ्या मार्ग का निवारक ही होगा।

प्रश्न 46 : सच्चे गुरु किन्हें कहते हैं?

उत्तर : विषयो की आशा से रहित, प्रशसा, लाभ, पूजा की भावना से परे, ज्ञान–ध्यान और तप मे लीन तथा स्वय पर हितैषी, मोक्षमार्गी साधुओं को सच्चे गुरु कहते है।

विश्व एव स्वय के यथार्थ स्वरूप को जिन्होने स्पष्ट रूप से जान लिया है एव अपने स्वय की पूर्ण शुद्ध दशा की प्राप्ति के लिए ससार के समस्त आरम्भ कार्यो से स्वय को अलग कर ससार शरीर एव इन्द्रिय–विषयो की आशा से रहित होकर यथाजात नग्नत्व दशा को स्वीकार किया है एव शुद्ध आत्मस्वरूप की पूर्ण सिद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील है, ऐसे परम दिगम्बर श्रमण सन्त ही सच्चे गुरु हो सकते

है। ऐसे गुरु के ही सम्बन्ध मे श्रमण–सन्त परमपूज्य श्री नेमिचन्द्राचार्य जी ने लिखा है कि–

दंसण णाण समग्गं मग्गं मोक्खस्स जो हु चारित्तं ।
साधयदि णिच्च शुद्धं साहु सो मुणी णमो तस्स ।।54।।

(द्रव्यसग्रह)

सम्यक् दर्शन एव सम्यक् ज्ञान से सहित, मोक्ष के एक मात्र यथार्थ मार्ग सम्यक् चारित्र को जिन्होने स्वीकार किया है एव सतत अपने परम शुद्ध दशा की साधना मे तल्लीन रहते हैं, ऐसे दिगम्बर मुनि श्रमण सन्त को नमस्कार हो।

ऐसे श्रमण सन्त ही हमारे जीवन मे व्याप्त अज्ञान अन्धकार को समाप्त कर प्रकाश–ज्योति–रूप परम सत्य का दिग्दर्शन करा सकते हैं। धन्य है ऐसे परम दिगम्बर मुद्राधारी श्रमण सन्त !

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ।।

प्रश्न 47 : देव–दर्शन और पूजा–स्तवन क्यों करना चाहिए ?

उत्तर : (1) देव–दर्शन से आत्मदर्शन होता है । (2) अपने आत्मगुणो की ओर दृष्टि जाती है। (3) मन, वचन एव काय की एकाग्रता से ध्यान की सिद्धि होती है।

परम वीतरागता की प्राप्ति के लिए वीतराग प्रभु के दर्शन एव उनकी पूजा–स्तवन करना अत्यन्त अनिवार्य है। यद्यपि भगवान् स्वय वीतराग होने से किसी की स्तुति, वन्दना आदि से प्रसन्न नही होते और न ही किसी की निन्दा से क्रुद्ध होते है, परन्तु उनके दर्शन या पूजा–स्तवन से हमारे अन्दर जितने शुभभाव होते है, और शुभभाव ही अशुभता को समाप्त करते है। शुभभाव से विशेष से पुण्य का बन्ध होता है, जो पाप के क्षय का कारण होता है। जितनी भावो मे विशुद्धि आती है वही धर्मध्यान का कारण है इसलिए भक्ति एव विनय के साथ भगवान् की आदर्श प्रतिमा के दर्शन एव पूजा–स्तवन करने से हमारी

दृष्टि अपनी आत्मा के अनन्त गुणो की ओर जाती है और उनको प्रकट करने के लिए यथार्थ पुरुषार्थ की ओर हमारी प्रवृत्ति होती है। इसी को लक्ष्य मे रखते हुए कहा गया है–

जिन –देव दर्शन करन से, निज–देव दर्शन होंय।

जो कर्मफल देकर हटें, वे क्षीण क्षण में होंय ।।

भगवान् ने दर्शन एव पूजा–स्तवन से हमारी मन, वचन एव काय की जो एकाग्रता होती है, वह परम्परा से ध्यान की सिद्धि एवं भेद विज्ञान रूप परम समाधि की प्राप्ति मे कारण होती है। यद्यपि पूजन–सामग्री एकत्र करने मे किचित् द्रव्य–हिंसा सम्भव है, पर फलस्वरूप जो अनन्त पुण्य का सचय होता है एव निर्जरा होती है, उसके सामने वह नगण्य है। यही कारण है कि श्रावक के षड्–आवश्यकों मे जिनेन्द्र देव के दर्शन को प्रथम आवश्यक के रूप मे रखा गया है।

प्रश्न 48 : शास्त्र की विनय और स्वाध्याय करने से क्या लाभ है ?

उत्तर : विनय से बुद्धि पवित्र बनती है, अर्थात् विद्या आती है। स्वाध्याय से ज्ञान होता है और विषयो मे रमा हुआ मन एकाग्र हो जाता है। अत स्वाध्याय से ज्ञान और ध्यान की सिद्धि होती है।

शास्त्रो के अध्ययन से स्वय का अध्ययन करना, "मै कौन हूँ एव मेरा स्वरूप क्या है" ? इस पर चिन्तन–मनन कर उसमे तल्लीन होना स्वाध्याय है। यद्यपि अवधि–ज्ञान एव मन पर्ययज्ञान आत्मज्ञान मे हेतु नही है किन्तु श्रुतज्ञान आत्मज्ञान होने मे हेतु है। अत ज्ञान प्राप्ति के लिए शास्त्रो की विनय करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि विनय मे बुद्धि पवित्र होती है एव ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होने से विद्या शीघ्र आती है।

प्रश्न 49 : गुरुओं की सेवा, भक्ति तथा आहारादि दान क्यों (देना) करना चाहिए ?

उत्तर : दिगम्बर श्रमण सन्तो को देखकर हमारे मन मे समता, त्याग एव

वैराग्य का प्रादुर्भाव होता है एव आत्मा की उस अनन्त शक्ति की ओर लक्ष्य हो जाता है। जिसे श्रमण सन्तो ने प्रकट कर लिया है। उनके दर्शन मात्र से हमे ससार की असारता का बोध एव सम्यक् चारित्र रूप मोक्ष–मार्ग मे कदम बढाने की प्रेरणा मिलती है। उनकी वैराग्यवृत्ति से हमारे अन्दर पवित्रता एव विनय गुण का उद्भव होता है जिससे हमारी बहिर्दृष्टि अन्तर्मुखी होकर अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानने की ओर प्रवृत्त होती है। पूज्य गुरुओ को आहार दान देते समय हमारे मन में आह्लाद के साथ यह भावना उत्पन्न होती है कि वह शुभ दिन कब आये, जब हम भी ऐसी ही निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा मे आकर पाणिपात्र मे खडे–खडे आहार करे एव सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की साधना कर सब प्रकार के दु खो से परे शाश्वत आनन्दयुक्त मोक्ष की प्राप्ति करे।

प्रश्न 50 : दुःखों का मूल कारण क्या है ?

उत्तर : दु खो का मूल कारण–मिथ्यात्व, कषाय, व्यसन, पाप और खोटी इच्छाएँ है। इन सबका जनक राग–द्वेष है।

समस्त दु खों का मूल कारण इच्छाओ की उत्पत्ति है। पर पदार्थ शरीर आदि मे अहभाव "शरीर रूप मै हूँ" एव ममत्व भाव "शरीर मेरा है"। इस प्रकार का अध्यवसाय भाव है, वही दु.ख का मूल कारण है और यदि सूक्ष्म रूप से विचार किया जाये तो शरीर के प्रति अत्यन्त राग ही दु ख का मूल कारण है क्योकि जितनी भी हमारी इच्छाएँ एव कार्य होते है वे समस्त मूलत शरीर की ही सुख–सुविधाओ के लिए होते है। हम शरीर के सिवाय अन्य बाह्य पदार्थों को छोड सकते हैं लेकिन जहॉ शरीर एव उसकी विषय–पूर्ति का प्रश्न उत्पन्न होता है वहॉ हम चूक जाते है। यही कारण है कि भेद–विज्ञान "आत्मा एव शरीर भिन्न–भिन्न है" यहॉ आकर असफल हो जाता है अर्थात् वाड्मय का अवलोकन करने पर एव उसका हृदयहारी यथार्थ तत्त्व विवेचक उपदेश एव प्रवचन करने पर भी इतना स्पष्ट और सरल भेद–विज्ञान सम्पूर्ण जीवन मे भी नही हो पाता। पर, जिन्होने पदार्थ के यथावत् स्वरूप को समझकर ससार शरीर–भोगो की आत्यन्तिक

निवृत्ति रूप अपनी इच्छा को सीमित किया है वे ही सत्यनिष्ठ मानव परम–सत्य को प्राप्त करने मे सफल हुए है।

प्रश्न 51 : मिथ्यात्व किसे कहते हैं ? वह कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : तत्त्वो की अश्रद्धा या विपरीत मान्यताओ को मिथ्यात्व कहते हैं। पदार्थ के यथार्थ को स्वीकार न कर अपनी कषाय के वशीभूत, सत्यआप्त एव सत्य गुरुओ की दृष्टि एव वाणी मे आये हुए अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप की साधक स्याद्वाद शैली को स्वीकार न कर मात्र एकान्त रूप से वस्तु स्वरूप का कथन करना मिथ्यात्व कहलाता है।

मिथ्यात्व दो प्रकार का है–

(1) गृहीत मिथ्यात्व
(2) अगृहीत मिथ्यात्व।

प्रश्न 52 : गृहीत मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : खोटे देव, खोटे शास्त्र एव खोटे गुरु की मान्यता और उनकी जो श्रद्धा, भक्ति, प्रशसा आदि की जाती है वह 'गृहीत मिथ्यात्व' कहलाता है। अर्थात् अनादिकालीन मिथ्यात्व को परिपुष्ट करने के लिए ज्ञात–अज्ञात रूप से प्रत्येक पर्याय विशेष मे जो देव, शास्त्र, गुरु के स्वरूप के विपरीत, कुगुरु, कुदेव एव कुधर्म को स्वीकार कर लिया जाता है उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते है।

इसको स्वीकार करने वाले चर्म–चक्षु एव ज्ञान चक्षु के होते हुए भी इस मिथ्यात्वरूपी अन्धकार से व्याप्त कुएँ मे स्वय गिरते है।

जिन्होने पहले पुरुषार्थ–पूर्वक इस गृहीत मिथ्यात्व का ही मन, वचन एव काय से त्याग नही किया, वे उस अगृहीत मिथ्यात्व को कैसे समाप्त कर सकते है? कषाय के वशीभूत एकान्तरूप से जानबूझकर पदार्थ का स्वरूप विवेचना करना भी इसी गृहीत मिथ्यात्व के अन्तर्गत आयेगा, अवश्य ही आयेगा, क्योकि वह उस सत्य परम्परा से पुरुषार्थ पूर्वक हटकर एकान्त धर्म का पोषण है। गृहीत मिथ्यात्व के पॉच भेद है।

1. एकान्त मिथ्यात्व
2 विपरीत मिथ्यात्व
3. वैनयिक मिथ्यात्व
4 सशय मिथ्यात्व
5 अज्ञान मिथ्यात्व ।

प्रश्न 53 : अगृहीत मिथ्यात्व किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनादिकाल से अपने सत्य स्वरूप को न जानने वाले इस अज्ञानी जीव के जो सात तत्त्व एव पुण्य–पाप विषयक उल्टी श्रद्धा पडी हुई है उसे 'अगृहीत मिथ्यात्व' कहते है।

प्रश्न 54 : कषाय किसे कहते हैं ? उसके कितने भेद हैं ?

उत्तर : आत्म–स्वरूप की घातक चारित्र के ग्रहण मे बाधक एव ससार के दु खो को सतत बढाने वाली विकारी आत्म–परिणति को कषाय कहते है।

कषाय शब्द की व्युत्पत्ति हिसार्थक 'कष' धातु से हुई है। इसके अनुसार–

सम्यक्तवादि–विशुद्धात्मक परिणामन् कषति हिनस्ति इति कषाय :।

जो आत्मा के सम्यक्त्वादि विशुद्ध परिणामो को नष्ट कर दे अर्थात् स्वभाव मे न रहने दे, उसे कषाय कहत है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड मे नेमिचन्द्राचार्य ने लिखा है कि कषाय शब्द की व्युत्पत्ति कृष् धातु से होती है जिसका अर्थ जोतना हाता है। उन्होने लिखा है कि–

"जो जीव के सुख–दु ख आदि अनेक प्रकार के धान्य को उत्पन्न करने वाले तथा जिसकी ससार रूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी खेत का कर्षण करती है अर्थात् जोतकर उसे उपजाऊ बनाती है उसे कषाय कहते है।

कषाय के मूल मे चार भेद किये हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ एव भावो की तीव्रता, एव उनके कार्यो की अपेक्षा इनके सोलह भेद हो जाते हैं।

क्रोध – आत्मा के शुद्ध स्वभाव उत्तम क्षमा धर्म रूप शान्त स्वभाव को जो घाते, उसे क्रोध कषाय कहते है।

मान – आत्मा के मृदु भाव को जो घाते, उसे मान कषाय कहते हैं। यथार्थ मे क्रोध कषाय से ही मान कषाय की उत्पत्ति होती है।

माया – आत्मा के विकार रूप परिणति की जनक माया कषाय है। यह आत्मा के सरल भावो का घात करती है।

लोभ – आत्मा के शुचिता रूप शौच धर्म के प्रकट होने मे जो बाधक हो, उसे लोभ कहते है। यह कषाय अत्यन्त विकट है। इस लोभ के वशीभूत होकर महान् व्यक्ति भी चारित्रादि से स्खलित हो जाते है। इसीलिए लोभ को पाप का बाप कहा गया है।

मूल मे कषाय के ये चार भेद है, इनके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान एव सज्वलन की चौकडी की अपेक्षा सोलह भेद हो जाते है।

1. अनन्तानुबन्धी – अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व के साथ जिसका अनुबन्ध हो उसे अनन्तानुबन्धी कषाय कहते है। यह अनन्तानुबन्धी कषाय सम्यक्त्व, एव सम्यकत्वा चरणचारित्र की रोधक है, उसको उत्पन्न नही होने देती है।

मिथ्यात्व की आश्रयदाता एव आस्रव कराने वाली अर्थात् इसको बुलाने वाली अनन्तानुबन्धी कषाय है। अत यही अनन्तानुबन्धी कषाय अनन्त ससार का कारण है।

अत ससार से मुक्त होने के लिए एव सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ पूर्वक इस अनन्तानुबन्धी कषाय को मन्द से मन्दतर एव मन्दतम बनाया जायें तभी तत्त्व–चिन्तन की धारा हमारे अन्दर चल सकती है, जो मोक्षमार्ग के प्रथम सोपान सम्यक् दर्शन को प्राप्त कराने मे समर्थ होती हैं। अनन्तानुबन्धी कषाय ही इस मिथ्यात्व की

आश्रयदाता जननी अर्थात् आश्रव कराने वाली है। अत मिथ्यात्व से बचने के लिए हमे इस अनन्तानुबन्धी कषाय को पुरुषार्थ पूर्वक समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

2. अप्रत्याख्यानावरण – जिस कषाय के उदय मे नियम रूप से श्रावक के चारित्र एव ग्यारह प्रतिमादि रूप चारित्र को ग्रहण नही किया जा सके, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते है।

अर्थात् जिसके उदय मे पचम गुणस्थान के अनुरूप विशुद्ध परिणाम न हो सके, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते है।

3. प्रत्याख्यानावरण कषाय – 'जिस कषाय के उदय से मुनिव्रत रूप सकलचारित्र को ग्रहण न किया जा सके, उसे प्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं।

4. संज्वलन कषाय – जिस कषाय के उदय मे यथाख्यात चारित्र न हो उसे सज्वलन कषाय कहते है।

क्रोध, मान, माया एव लोभ इन चारो के अनन्तानुबन्धी आदि चार–चार भेद है, इसीलिए इनके 4 × 4 = 16 भेद है। इन चारो कषायो मे अनन्तानुबन्धी कषाय ही मूलत स्वभाव की विद्यमान है, संयम की शत्रु है, रत्नत्रय की एकता मे बाधक है अत सर्वप्रथम जैसे भी बने इससे बचना चाहिए।

प्रश्न 55 : व्यसन किसे कहते हैं और उनके कितने भेद हैं ?

उत्तर : खोटी आदतो को व्यसन कहते है।

आचार्य सोमदेवसूरि ने अपने नीतिवाक्यामृतम् मे व्यसन का लक्षण देते हुए लिखा है कि **"व्यस्यति पुरुषं श्रेयसः इति व्यसनम्"** अर्थात् व्यक्ति को कल्याण–मार्ग से विचलित अथवा भ्रष्ट करने वाले कार्यों का नाम व्यसन है। वास्तव मे, विषय की इच्छा से एव आदतो के वशीभूत होकर मनुष्य जिन अकरणीय (बुरे) कार्यो को आदर पूर्वक करता है उसे व्यसन कहते है।

आचार्यो ने मोक्ष–प्राप्ति के हेतु सम्यक् दर्शन का पच्चीस दोष

रहित एव आठ अग सहित सम्यक् परिपालन के साथ–साथ व्यसन त्याग पर अत्यन्त जोर दिया है। इनका त्याग न केवल श्रावको के लिए आवश्यक है बल्कि जो अव्रती एव धर्म सम्बन्धी आचरण से विमुख है, उनके लिए भी इनका पूरा त्याग अनिवार्य बताया है। इसके त्याग के बिना, ससार–शरीर एव भोगो से विरक्ति नही हो सकती है। व्यसनी पुरुष एक साथ अनेक प्रकार के दुर्गुणो एव व्यसनों से आक्रान्त होकर अपने मार्ग से विचलित हो जाता है।

व्यसनो को किसी सख्या मे सीमित नही किया जा सकता किन्तु शास्त्रो मे प्रमुख रूप से सप्त व्यसनो का उल्लेख पाया जाता है। अन्य व्यसन भी किसी न किसी रूप मे इन्ही मे सम्मिलित हो जाते है। एक–एक व्यसन मानव–जीवन मे सुख–शान्ति, सम्मान, एव आरोग्य का घातक तथा धर्म, जाति एव सस्कृति पर कलक होता है और यदि एक से अधिक या समस्त व्यसन एक साथ पाये जाये, तो परिणाम क्या होगा ? यह अनिर्वचनीय ही है। ये व्यसन स्वय पल्लवित होते रहते है। इन्हे विकसित होने के लिए किसी बाह्य साधन की आवश्यकता नही होती । उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द जी ने इन्हे 'अनबोयी फसल' कहा है।

क्षत्रचूडामणि मे भी कहा गया है–

व्यसनाऽसक्ता–चित्तानां गुणः को वा न नश्यति।
न वैदुष्यं न मानुष्यं नाभिजात्यं न सत्यवाक्।।

व्यसनासक्ता मानव के धर्म, विद्वत्ता, मानवता, कुलीनता और सत्य आदि कुछ भी शेष नही रहता ।

ये सप्त व्यसन निम्नलिखित है–

जुआ खेलना, मास खाना, मद्यपान करना, वेश्या गमन करना, शिकार करना, चोरी करना एव परस्त्री सेवन करना।

(1) जुआ खेलना – जुआ खेलने से बुद्धि समाप्त हो जाती है। मानव ज्ञान एव चारित्र से पतित होकर परिवार एव समाज की दृष्टि से गिर जाता है। असीम सम्पत्ति का स्वामी होकर भी वह

दर–दर का भिखारी बन जाता है। उदाहरण हमारे सामने स्पष्ट है, धर्मराज युधिष्ठिर केवल एक द्यूत व्यसन से ही द्रौपदी को हारकर भाइयो सहित वनवासी हुए। महाराजा नल अपना सम्पूर्ण राज्य हारकर अयोध्या के नरेश ऋतुपर्ण के यहाँ अश्वपालक बने।

(2) मांस खाना – मासाहार तामसिक प्रवृत्ति का प्रतीक, मनुष्य की बुद्धि को दूषित करने वाला एवं अनेक रोगो की उत्पत्ति का हेतु है। आज का विज्ञान स्पष्ट रूप से सिद्ध कर रहा है कि मांसाहार मानव का प्राकृतिक भोजन नहीं है। उसके दॉतो एव ऑतो की बनावट मासाहारी प्राणियो से बिल्कुल भिन्न है। यह मास निरापराध स्वभाव से भयभीत, निराश्रय प्राणियो के वध से प्राप्त होता है।

"जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन" इस उक्ति के अनुसार पश्चिमी देशो मे अशान्ति के बादल मँडराते रहते है एव मानव–मानव के बीच भ्रातृ–भाव समाप्त होकर विश्वशान्ति को सदैव खतरा बना रहता है। योगसार में स्पष्ट शब्दो मे लिखा है–

मांसास्वादनलुब्धस्य देहिनो हिनं प्रति।
हन्तुं प्रवर्त्तते बुद्धिः शकुन्ता इव दुर्धियः।।

अर्थात् जिसको मास खाने का चस्का पड जाता है, उस प्राणी की बुद्धि दूसरे प्राणियो के समान दूसरे प्राणियों को मारने मे लगती है।

(3) मद्यपान – मद्य अर्थात् शराब सडे पदार्थो मे विकरित होने वाले अनन्त सूक्ष्म जीवो के गलित शरीरो का सत्व, जिसको प्रत्यक्ष देखने मात्र से व्यक्ति का रोम–रोम कॉपने लगे, उसमे अनेक प्रकार की सुगन्ध एव रग मिलाकर सुगन्धित पेय के रूप मे प्रस्तुत की जाती है। जिसके पीने से सत्य–असत्य, मॉ–बहिन और शत्रु–मित्र का भेद समाप्त होकर अन्याय की ओर प्रवृत्ति हो जाती है। मदिरा के नशे मे डूबे शराबी के मुँह मे कुत्ता भी पेशाब कर जाये फिर भी विवेक–बुद्धि जाग्रत् न हो, ऐसे महापतन की ओर ले जाने वाला यह व्यसन है। परिवार के परिवार इस मदिरा के पेय मे झोक दिये गये है। इतिहास इसका साक्षी है कि मुगल साम्राज्य एव नवाबी का सारा प्रभुत्व मदिरा

के नशे में दीवाने बने, सुरा–सुन्दरी के लोलुपी नवाबो एव सम्राटों के द्वारा प्रभुत्व समाप्त कर दिया गया। आज की भी अधिकांश मानसिक एव शारीरिक बीमारियो का एक मात्र कारण मदिरा के नशे से उत्पन्न होने वाला मानसिक तनाव है। इससे स्पष्ट होता है कि मद्यपान का त्याग किये बिना हमारे जीवन मे और विचारो में सत्य प्रकट हो ही नही सकता।

(4) वेश्या गमन करना : विषयी लम्पट पुरुषों के द्वारा सेवित धोबी की शिला पत्थर के समान, सर्व–स्त्री (वेश्या, नगरवधू) के सेवन से उत्पन्न होने वाले भय, चिन्ता, व्याकुलता के वशीभूत हुआ मानव दरिद्रता एव कुत्सित रोगो का आगार बन जाता है।

वेश्यागामी पुरुष कामान्ध होकर नीचो की दासता को स्वीकार करता है, मान्य कुलीन एव शूर होते हुए भी अनेक अपमानो को सहन करता है। वह एक के बाद एक दुर्गुणो का शिकार होता हुआ समाज एव जाति से बहिष्कृत होकर दु खी जीवन जीने को विवश हो जाता है।

वेश्यागमन से चारुदत्त श्रेष्ठी की जो गति हुई, उससे सभी परिचित है। आज बडे–बडे शहरो मे जो चकले चल रहे है एव उनके कारण जो विक्षिप्तता एव मानसिक रोग उत्पन्न हो रहे है, उनके मरीजो से आज चिकित्सालय भरे पडे है।

(5) शिकार खेलना – अपने कौतूहल एव मनोविनोद की पूर्ति के लिए निर्दयी शिकारी क्रूरता से स्वभाव से भयभीत, निरपराध, आश्रयहीन, रोगटे खडे करके भागते एव दॉतो के तृण दबाने वाले, तृण भक्षण करने वाले अन्य पशुओ के प्राणो का हरण कर मार डालते है। स्वय सुई की एक चुभन से विचलित हो जाने वाला शिकारी इन निरपराध वन्य जन्तुओ को मारता हुआ हृदय मे जरा भी क्षमा–भाव नही लाता। जिसको स्वय जीवन नही दे सकते, उसके जीवन को लेने का तुम्हे कतई कोई अधिकार नही है। शिकार करने के लिए गये हुए भगवान् श्रीराम की पत्नी को रावण उठा कर ले गया। यदि वे मृग के शिकार के लिए मृग के पीछे न गये होते तो सम्भवत. आज रामकथा का इतिहास ही दूसरा होता।

(6) चोरी करना – कृपण मानव के ग्यारहवे प्राण–अर्थ का अपहरण करना, न केवल उसके जीवन के प्रति अपितु उसके परिवार, पत्नी एव नन्हे–नन्हे बालकों के प्रति उनके भविष्य के प्रति खिलवाड करना है। सतत परिश्रम से अपना पेट काटकर जिन्होने अर्थ का सचय किया है, उनके अर्थ को स्वय हडप लेना कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य स्वीकार नही करेगा। चोरी करने वाला मनुष्य भयभीत होकर सदा शंकित बना रहता है और यदि उसका अपराध प्रकट हो जाये तो अनेक प्रकार की सजा पाकर समाज एव पारिवारिक जीवन मे घृणा का पात्र बना रहता है। उसकी बुद्धि, ज्ञान एव ताकत समाप्त हो जाती है। रावण जैसा महान् शक्तिशाली एव तत्त्वज्ञान का उद्भट विद्वान् भी केवल सीता–हरण करने के कारण ही लोक अपयश को प्राप्त हुआ एव स्वर्ण की लका की बर्बादी का कारण बना।

(7) परस्त्रीगमन – काम के अत्यन्त तीव्र दाह मे जलते हुए कामान्ध व्यक्ति विवेकहीन होकर पर- स्त्री सेवन की इच्छा से उनका ससर्ग करते है एव चारो ओर से शकित होकर खडहर आदि एकान्त स्थल मे उनके साथ विकृत चेष्टाएँ करते है। वह जरा–सा शब्द सुनने पर थर–थर कॉपता हुआ इधर–उधर देखता है, छिपता गिरता हुआ यहॉ–वहॉ दौडता है। समाज के सामने भेद प्रकट हो जाने पर दूसरो के द्वारा पीटा जाता है एव कानून के द्वारा भी अनेक प्रकार से दण्डित होता है। समाज मे मुँह दिखाने से भी शरमाता है। सदा अपने स्वाभिमान को खोकर अनेक प्रकार से परस्त्री की खुशामद एव चाटुकारी करने पर भी अपने लक्ष्य की पूर्ति न होने पर अत्यन्त दु:खी होता है।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यसन मूल मे आत्म घातक तो होता ही है किन्तु एक ही साथ अन्य व्यसनो को भी अपने मे किसी न किसी रूप मे सम्मिलित किये रहता है, जिससे एक भी व्यसन के सेवन से अन्य व्यसनो का सेवन स्वत होता रहता है। विशेष विचारणीय–

इन सात व्यसनो के अलावा आज एक आठवॉ व्यसन भी खूब प्रचलित हो रहा है, वह है बढती हुई अर्थ–लोलुपता। आज पैसा

इन्सान का भगवान् बन गया है। धार्मिक सम्पत्ति को सम्पत्ति के स्तर से गिरा दिया है और यही कारण है कि मानव भौतिक वैभव की अतृप्त लालसा लेकर अपने चरित्र से स्खलित होकर भी अर्थ–सचय की ओर प्रवृत्त हो रहा है किन्तु विपुल सम्पत्ति शुद्ध श्रम से उत्पन्न नही हो सकती।

अत वासना–पूर्ति की इच्छा को सीमित किये बिना आज की इस विषम परिस्थिति से उभरने का कोई रास्ता नहीं है। जीवन की सहजता को स्वीकार करने पर एव उसे प्रकृति के अनुसार ढालने पर ही व्यसनो से बचा जा सकता है एव उच्च चारित्रिक मूल्य पुन स्थापित किये जा सकते है।

प्रश्न 56 : पाप किसे कहते हैं और उनके कितने भेद हैं ?

उत्तर : जो मानव को आत्मोन्नति के मार्ग से विचलित कर पतन की ओर ले जाये उसे पाप कहते है।

आचार्यों ने धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि जो मानव को सच्चे सुख की ओर ले जाये वह धर्म है। अत पाप वह है जो व्यक्ति को स्वार्थी बनाकर पतन एव दु ख की ओर ले जाये। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो कार्य निज हित मे ठीक नहीं है वह भी पाप ही है, भले ही वह हमारे भौतिक विकास मे सहायक हो। इसका कारण यह है कि आत्म–विकास दूसरो के हितो की कीमत पर नही किया जा सकता ।

जब परिभाषा पर विचार करते है तो पापो की सख्या एव स्वभाव की ओर हमारा ध्यान जाता है। पाप कितने है ? जितने गलत विचार एव गलत कार्य है, वे सभी पाप है फिर भी उनके स्पष्ट उल्लेख के लिये आचार्यों ने उन्हे पॉच रूपो मे कहा। वे है–

हिसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना, (व्यभिचार), परिग्रह–सग्रह करना और इन्ही की नियुक्ति सेवन करना, श्रमणो के पांच व्रत स्वीकार किये गये है। ये है–अहिसा, सत्य, अचौर्य,

ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह या परिग्रह–परिणाम, इन व्रतो का श्रावक अशतः (एक देश) एव श्रमण पूर्ण रूप से (सकल देश) पालन करते हैं।

(2) हिंसा करना – अहिंसा की निवृत्ति को हिसा कहते हैं। जहॉ पर विचारो मे, वचनो मे एव आचरण मे अहिंसा प्रतिफलित नही होती, वहॉ हिंसा का सद्भाव बना रहता है। हिसा का विवेचन करते हुए आचार्यो ने लिखा है कि रागादि भावों की उत्पत्ति होना हिसा है! चाहे बाह्य रूप में उनका दर्शन हो या न हो। पापो के पॉचों भेद ही इस हिसा मे समाहित हो जाते है। लिखा है कि–

आत्म–परिणामहिंसन–हेतुत्वासर्वहिंसैतत् ।

अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्य–बोधाय ।।42।। (पु0 सि0)

आत्मा के सहज परिणामो के घात होने के हेतु से असत्य वचनादि सर्व पाप हिसा रूप ही है। असत्य वचनादि पापों का भेद कथन तो केवल शिष्यो को समझाने के लिए किया गया है।

हिसा का विस्तृत विवेचन करते हुए कहा गया है कि प्रमादयुक्त प्रवृत्ति ही हिसा है, चाहे उससे जीव का घात हो अथवा न हो, क्योंकि हिसा का मूल सम्बन्ध आत्म–परिणामो से है। डाक्टर, ड्राइवर, डाकू इन तीनो ही के द्वारा व्यक्ति के जीवन का घात हो सकता है। किन्तु डाक्टर को कानून के द्वारा दण्ड से मुक्त कर दिया जाता है, जबकि ड्राइवर को किचित् असावधानी के कारण आशिक दण्ड दिया जाता है, और डाकू को मौत की सजा दी जाती है। इससे स्पष्ट है कि हिसा–अहिसा का मूल्याकन भावो के आधार पर किया जाता है, न कि केवल क्रिया के आधार पर।

(2) असत्य बोलना – जिस बात को जैसा सुना है जैसा देखा है उसे उस रूप मे अभिव्यक्त न करना असत्य वचन है। असत्य वचन बोलने मे मन का अशुभ प्रयोजन मूल हेतु है। क्रोध के वश कहे जाने वाले कटु व तीखे या गाली आदि के शब्द द्वेषवश कहे जाने वाले व्यग्यात्मक शब्द, लोभवश कहे जाने वाले छल भरे शब्द, हॅसी–ठट्ठे मे कहे जाने वाले अनिष्टकारी शब्द अर्थात् जिन वचनो मे दूसरो के पतन

एव अकल्याण की भावना छिपी हो ऐसे स्वार्थयुक्त वचनो को असत्य वचन कहते है। लेकिन एक बात ध्यान रखे! मात्र झूठ बोलने को ही असत्य वचन नही कहते है, बल्कि प्रत्येक अनिष्ट व कटु वचन भी वास्तव मे असत्य ही है। सत्य वचन भी हो परन्तु उससे किसी का अहित हो, धर्म से कोई विचलित होता हो अथवा किसी की जान खतरे मे पडती हो तो वह वचन भी असत्य ही है।

(3) परिग्रह–संचय – परिग्रह का शाब्दिक अर्थ होता है 'परि' अर्थात् परित सब ओर से, 'ग्रह' अर्थात् ग्रहण । इस प्रकार से परिग्रह शब्द का शाब्दिक अर्थ हुआ मन, वचन, काम के द्वारा सब ओर से विषय लिप्सा की पूर्ति हेतु सामग्री एकत्र करना। यही कारण है कि आज के विश्व मे विपुल उत्पादन वृद्धि के पश्चात् भी सदैव अभाव की स्थिति बनी रहती है। एक ओर ऐश्वर्य की असीम सामग्री एकत्र हो जाती है, दूसरी ओर श्रमिक 'साधनो का जनक' भूखा–प्यासा एवं बेकारी का शिकार होता चला जाता है। इससे स्पष्ट है कि परिग्रह सचय न केवल धार्मिक दृष्टि से बल्कि सामाजिक दृष्टि से भी पाप है, जो आज के युग मे एक अभिशाप बनता जा रहा है। इस आर्थिक एवं मानसिक असन्तुलन को समाप्त किये बिना हम धर्म के क्षेत्र में आगे नही बढ सकत ।

इसलिए जैन–धर्म का आधारभूत सिद्धान्त है 'अपरिग्रही बनो'। (विशेष–कुशील सेवन करना, एव चोरी करना इन दोनो पापो का वर्णन सात व्यसन के अन्तर्गत हो चुका है। अत उन्हे वहॉ से समझ ले।)

प्रश्न 57 : मोक्षार्थी को सर्वप्रथम क्या करना चाहिए ?

उत्तर : ससार के यथार्थ स्वरूप के परिचय से, जिनमे वैराग्य की तीव्र भावना बलवती हो रही है, ऐसे मोक्षार्थी पुरुष को सर्वप्रथम अपनी इच्छाओ को सीमित कर पर–पदार्थो मे अह भाव एवं ममत्व बुद्धि के त्याग रूप मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति हेतु, भेद–विज्ञान सहित सम्यक्चारित्र की उपासना मे प्रवृत्त होना चाहिये। क्योकि सत्य–श्रद्धान एव सत्य–ज्ञान से युक्त चारित्र ही साक्षात् मोक्ष–प्राप्ति का कारण है।

प्रश्न 58 : मोक्ष किसे कहते हैं ?

उत्तर : राग, द्वेष, मोह अथवा सब कर्मों से हमेशा को विमुक्त हो जाना मोक्ष कहलाता है। अनादिकाल से इस आत्मा के साथ नोकर्म रूप शरीर अष्ट द्रव्य–कर्म एव इनके निर्मित से उत्पन्न होने वाले भाव कर्मरूप राग–द्वेषादि विकारी भावों का सयोग चल रहा है। इस सयोग को सवर एव निर्जरा के द्वारा समाप्त कर केवल शुद्ध आत्म–तत्त्व की प्राप्ति हो जाना मोक्ष है।

मोक्ष ही प्रत्येक मानव का परम साध्य है। उसके समस्त कार्य इसी की प्राप्ति के लिए होते है।

प्रश्न 59 : मोक्ष प्राप्ति का उपाय क्या है ?

उत्तर : आचार्यों ने इस मोक्ष की प्राप्ति के उपायो को बतलाते हुए लिखा है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र रूपी रत्नत्रय की एकता ही मोक्ष का मार्ग है। जब तक इस रत्नत्रय रूप धर्म की परिपूर्णता एक साथ नही हो जाती, तब तक मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नही हो पाती। समन्तभद्राचार्य ने लिखा है कि रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग आत्मा का स्वभाव होने से धर्म कहा जाता है, और इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एव मिथ्याचारित्र अधर्म कहे जाते है। धर्म से मोक्ष तथा अधर्म से ससार की प्राप्ति होती है, इसलिए मोक्ष चाहने वाले सत्यनिष्ठ मानवो के लिए सम्यक् दर्शनादि रूप रत्नत्रय धर्म का आश्रय लेना ही परम इष्ट है।

प्रश्न 60 : सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र के कितने भेद हैं ?

उत्तर : यह रत्नत्रय रूप धर्म, निश्चय रत्नत्रय, व्यवहार रत्नत्रय के भेद से दो प्रकार से वर्णित किया गया है। निश्चय रत्नत्रय साध्य है, व्यवहार रत्नत्रय उसका साधक है। एकान्त रूप से स्वीकृत किया गया कोई भी रत्नत्रय धर्म मानव को इस ससार से पार कराने मे समर्थ नही है। अत श्रद्धा एव विवेक से हमे साध्य रूप निश्चय रत्नत्रय की प्राप्ति के लिए अवश्य ही उसके साधन रूप व्यवहार रत्नत्रय के साधन को

स्वीकार करना चाहिए, क्योकि वह प्रयत्न साध्य है, अर्थात् प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया जाता है। जबकि निश्चय रत्नत्रय धर्म उस साधन का फल है।

प्रश्न 61 : निश्चय सम्यक् दर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : निश्चय सम्यक् दर्शन पर पदार्थों मे, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म, राग–द्वेष आदि भावकर्म रूप आत्मा की अशुद्ध परिणति से रहित शुद्ध आत्म तत्त्व का श्रद्धान निश्चय सम्यक् दर्शन है।

करणानुयोग की दृष्टि से सम्यक् दर्शन की उत्पत्ति दर्शन मोहनीय कर्म की तीन प्रकृतियों मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व, सम्यक्त्व तथा चारित्र मोहनीय की प्रकृति अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया एव लोभ इन चार के उपशम क्षय या क्षयोपशम से होती है।

यह करणानुयोग की दृष्टि से सम्यक् दर्शन का यथार्थ स्वरूप है, किन्तु द्रव्यानुयोग की दृष्टि से 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यक् दर्शनम्' सप्त तत्त्वो का यथार्थ स्वरूप सहित श्रद्धान करना वह सम्यग्दर्शन है अथवा पर पदार्थ से भिन्न निज आत्मा की प्रतीति को या स्व–पर भेद–विज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा गया है। मूलत ये दोनो परिभाषाएँ भी 'तत्वार्थश्रद्धानम् सम्यक् दर्शनम्' इसमे समाहित हो जाती है, क्योकि तत्त्वो का यथार्थ श्रद्धान होने पर स्व–पर का भेद–विज्ञान एव निज–आत्म तत्त्व की प्रतीति तो नियम रूप से होगी।

प्रश्न 62 : व्यवहार सम्यक् दर्शन किसे कहते हैं ?

उत्तर : व्यवहार सम्यक् दर्शन–सात तत्त्वो एव सच्चे देव शास्त्र गुरु के यथार्थ श्रद्धान को व्यवहार सम्यक् दर्शन कहते है।

प्रथमानुयोग एव चरणानुयोग की दृष्टि से सच्चे देव–शास्त्र और गुरु का, तीन मूढताओ और आठ मदो से रहित एव आठ अंगो से सहित श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन है। जो वीतराग, सर्वज्ञ एव हितोपदेशी हं वह सच्चे देव कहलाते है। जैन–दर्शन मे अरहन्त एवं सिद्ध परमेष्ठी को ही सच्चा देव स्वीकार किया गया है तथा वीतराग

सर्वज्ञ देव की वाणी से मुखरित गणधरादिक एव आचार्यों द्वारा रचित आगम सत्य शास्त्र कहलाता है। विषयो की आशा से रहित निष्परिग्रही, ज्ञान, ध्यान मे लीन आगमानुकूल आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ साधु को सत्य गुरु स्वीकार किया गया है। मोक्ष–प्राप्ति के हेतु सत्यदेव, सत्य–शास्त्र, सत्य–गुरु की दृढ प्रतीति को सम्यक् दर्शन कहा गया है, क्योकि वह करणानुयोग सम्मत सम्यक् दर्शन की प्राप्ति में निमित्त है। इन सभी परिभाषाओ पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि करणानुयोग सम्मत सम्यक् दर्शन साध्य है किन्तु बुद्धि–गम्य न होने से यह प्रयत्न साध्य नही है। अन्य सभी परिभाषाएँ उसकी प्राप्ति में साधन–भूत है एवं वे प्रयत्न साध्य है।

सम्यग्दर्शन रूपी सत्य प्रकाश से आलोकित आत्मा की बाह्य प्रवृत्ति को दर्शाने हेतु आचार्यों ने चार गुणो को बतलाया है, जो सम्यक् दृष्टि मे पाये जाते है। प्रशम, सवेग अनुकम्पा एव आस्तिक्य।

(1) प्रशम – यह गुण आत्मा के चारो कषायों एव विकारो के उपशम अर्थात् शान्त होने पर उत्पन्न होता है। इसके प्रभाव से सम्यक् दृष्टि, जीव स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र एव मन के विषयो से एव क्रोधादिक कषाय रूप भावो से रहित होकर अत्यन्त शान्त हो जाता है।

(2) संवेग – ससार से भयभीत होना सवेग गुण है। सम्यग्दृष्टि जीव ससार एव शरीर–भोगों से ममत्व भाव को समाप्त कर, धर्म में और धर्म के फल मे अर्थात् चारित्र मे परम उत्साह से सहित होता है एव समान धर्म वालो मे अर्थात् साधमियो मे अत्यन्त अनुराग रखता है।

(3) अनुकम्पा – ससार के समस्त प्राणियो या जीव–मात्र पर दया भाव रखना अनुकम्पा कहलाता है। सम्यक् दृष्टि अपनी आत्मा के समान ही, समस्त जीवो मे माध्यस्थ भावो से समता का व्यवहार करता है। सभी से शत्रुता रूपी भावो का परिहार करता है।

(4) आस्तिक्य – स्वय सिद्ध जीवादि तत्त्वो के सद्भाव को सशय से रहित होकर स्वीकार करना एव धर्म के हेतु एव धर्म के फल

में तथा आत्मा के अस्तित्व मे अकाट्य विश्वास रखना आस्तिक्य नाम का गुण है। यह गुण सम्यक् दृष्टि मे ही पाये जाते है।

इस परम विशुद्धि रूप सम्यक् दृष्टि के आठ अग कहे जाते है। आठ अंगों से परिपूर्ण होने पर ही वह निर्मल, नीरज (न, रज = विकार रहित) कहा जा सकता है, अस्तु अष्ट अक निम्नलिखित हैं–

(1) निःशंकित अंग – वीतराग, सर्वज्ञ, सत्य–देव द्वारा कहे गये विश्व एव तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप मे अकाट्य अटल विश्वास होना निःशकित नामका गुण है, तथा इह लोक, परलोक, मरण, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति और आकस्मिक इन सप्त प्रकार के भयो से अविचलित रहकर सम्यग्दृष्टि अपनी निष्कम्प श्रद्धा से तनिक भी विचलित नही होकर, सत्य–मार्ग पर अविराम बढता चला जाता है।

(2) निःकांक्षित अंग – सम्यग्दर्शन रूपी पारसमणि को प्राप्त कर चुका है, ऐसा सम्यग्दृष्टि मनुष्य इस ससार की क्षणभगुर सम्पत्ति एव विषय–भोगो की तनिक भी इच्छा अपने मन मे नही लाता। वह तो उस परम–धाम मोक्ष की प्राप्ति के लिए निष्काम रूप से अपनी सत्य–साधना करता चलता है।

(3) निर्विचिकित्सा अंग – सत्य ज्ञान भगवान् का जिन्होने अपने आप मे दर्शन कर लिया है ऐसा महान् मानव, मानव तन की आकृति एव विकार मे ही न अटककर मानव–मन मे छिपे हुए परम–सत्य के दर्शन हेतु सदा उत्कठित रहता है। उत्कृष्ट सत्य की साधना में सहायक इस शरीर से ग्लानि न कर आबाल–गोपाल, रोगी–निरोगी मानव के प्रति अत्यन्त सहानुभूति रखता है इसी का नाम है निर्विचिकित्सा अग।

(4) अमूढ़दृष्टि अंग – अपनी विवेक, बुद्धि एव ज्ञान–चक्षु से जगत् मे हेय–उपादेय, सत्य–असत्य, हित–अहित एव एकान्त–अनेकान्त का स्पष्ट निर्णय करना एव मूर्खता पूर्ण अन्धश्रद्धा के त्याग रूप असत्य–देव, शास्त्र–गुरु एव मिथ्या मार्ग से सदैव दूर रहकर सत्य–परीक्षा–प्रधान दृष्टि को अगीकार करना, अमूढदृष्टि नाम का अग है।

(5) उपगूहन अंग – सत्य के पथिक किसी मानव द्वारा कदाचित् ज्ञान–अज्ञान या प्रमाद के वशीभूत हुए अपराध या दोष को समाज में प्रचारित न कर, धर्म एव चारित्र को लोक–उपहास से बचाना एव एकान्त मे उसके दोष को दूर करने के लिए शान्तिपूर्ण प्रयत्न करता है। यह उपगूहन नाम का अग है।

सम्यक् दृष्टि मानव सदैव आत्मप्रशसा से दूर रहकर अपने दोषो को सुधार की दृष्टि से प्रकट करता है एव दूसरों के गुणो को स्वय अपने एवं समाज के विकास की दृष्टि से उन्हे प्रकट करता है।

(6) स्थितीकरण अंग – सत्य सधान एवं मार्ग से किसी कारण वश विचलित हुए सत्य के पथिक को उद्‌बोधित कर पुन: सत्य–मार्ग मे प्रतिष्ठित करना एव पूर्ण निष्ठा से उसकी हर शका का समाधान करना एव उसकी हर सम्भव सहायता करना, स्थितीकरण नाम का अंग है।

(7) वात्सल्य अंग – नि:स्वार्थ निश्छल भाव से अपने परिवार, समाज एव प्राणिमात्र के प्रति निष्कपट, नि:स्वार्थ, सच्चा प्रेम एवं भ्रातृभाव रखना वात्सल्य नाम का गुण है।

गाय का अपने बछडे के प्रति जिस प्रकार का नि:स्वार्थ एव निष्कपट प्रेम होता है ऐसे प्रेम को अपने चारो ओर बिखेर देना एव साधर्मी जनो का यथायोग्य आदर एव सत्कार करना, सामाजिक एव आर्थिक विकास मे हर सम्भव सहायता देना एव प्राणिमात्र के प्रति मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एव माध्यस्थ भाव रखना, सम्यक् दृष्टि के वात्सल्य गुण की अनिवार्य शर्त है।

(8) प्रभावना अंग – प्रत्येक मानव का कल्याण एव विकास हो, इस भावना से सत्य–मार्ग को अच्छी तरह से प्रचार हेतु सत्साहित्य का प्रकाशन एव धार्मिक उत्सवो को सार्वजनिक रूप से करना, एव सभी सस्थाओं एव पत्र–सपादन आदि के माध्यम से ज्ञान, सयम, परोपकार रूप धर्म का प्रचार करना प्रभावना अग कहलाता है। सच्ची प्रभावना तो अपनी आत्मा को विशुद्ध करने मे सतत लगे रहना है।

सम्यक् दृष्टि मानव इन आठ अगो से युक्त होकर, पच्चीस दोषो

से भी रहित होता है। वे पच्चीस दोष, शका आदि आठ दोष, आठ मद, छ अनायतन एव तीन मूढताओ के भेद रूप होते है।

सम्यक् दृष्टि पच्चीस दोषो से रहित होता है–

(क) आठ दोष :

(1) शंका संदेह – सच्चे देव–शास्त्र–गुरु एवं विश्व के तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप मे सदेह करना एव सात प्रकार के भयो से आकुलित होना।

(2) कांक्षा – धर्म–साधना को शरीर एव भोग सम्बन्धी सामग्री की प्राप्ति का हेतु मानना ।

(3) विचिकित्सा – सत्य ज्ञान से विभूषित गुणवान् मनुष्यो के प्रति घृणा का भाव रखना।

(4) मूढ़दृष्टि – सत्य–असत्य की परीक्षा न कर दूसरो के कहे अनुसार वस्तु–तत्त्व को स्वीकार कर लेना।

(5) अनुपगूहन – अभिमान के वशीभूत होकर अपनी प्रशसा एव दूसरो के गुणो की निन्दा करना एव अपने दोषो को छिपाकर दूसरो के दोषो को प्रगट करना।

(6) अस्थितिकरण – धर्म मार्ग से विचलित हुए सत्य पथिको को उसी मे पुन स्थापित न कर, कषाय–वश पतित मार्ग की ओर उसे प्राप्त करने मे सहयोग देना एव सम्यग्मार्ग से भ्रष्ट जनो का सरक्षण करना।

(7) अवात्सल्य – साधर्मी भाइयों एव गुणीजनो मे प्रेम न कर उनकी उपेक्षा एव बुराई करना।

(8) अप्रभावना – सकुचित दृष्टिकोण रखते हुए सम्यक् धर्म की ओर दूसरो की प्रवृत्ति मे बाधक होना एव अपने आचरण से धर्म को उपहासप्रद बनाना।

(ख) आठ मद :

(1) ज्ञानमद – ज्ञानावरण–कर्म–विशेष के क्षयोपशम् होने पर अपने ज्ञान एव साहित्य–लेखन, वक्तृत्व आदि प्रतिभा विशेष का गर्व करना एव अन्य की उपहास वृत्ति से उपेक्षा करना।

(2) कीर्तिमद – समाज एव शासन मे विशेष प्रतिष्ठा होने पर या लौकिक ख्याति प्राप्त होने पर उसका अभिमान करना।

(3) कुलमद – पितृ–परम्परा के उज्ज्वल एव समर्थ होने पर उसका अभिमान करना।

(4) जातिमद – मात्र–वश के उज्ज्वल एव समर्थ होने पर अभिमान करना।

(5) शक्तिमद – शारीरिक बल एव अपने अधीन रहने वाली शक्ति पर अभिमान करना।

(6) रूपमद – अपने शरीर की सुन्दरता पर घमण्ड करना।

(7) धन–मद या ऋद्धि – मद–सम्पत्ति अधिक होने पर उसका अभिमान करना एव निर्धनो की उपेक्षा अथवा ऋद्धि विशेष होने पर उसका गर्व करना।

(8) तप–मद – विशेष तपश्चर्या एवं सदाचार के परिपालन मे समर्थ होने पर उसका घमण्ड करना एव दूसरो को हीन समझना।

(ग) छः अनायतन :

(1) असत्य देव–भक्ति – वीतरागता, सर्वज्ञता एव हितोपदेशता के गुण से रहित क्रोध, मोह, माया आदि से सहित देव को मानना एव उसकी भक्ति करना।

(2) असत्य गुरु–भक्ति – विषय–लोलुपी, विकार–ग्रस्त गुरुओ की भक्ति करना।

(3) असत्य धर्म–भक्ति – हिसा, मदिरापान आदि पाप कार्यो से युक्त आचरण को स्वीकार करना एवं उसमे भक्ति रखना।

(4) असत्य देव–उपासक–भक्ति – मिथ्या देवो की भक्ति करने वालो की सगति करना एव उनके गलत कार्यों मे सहयोग देना।

(5) असत्य गुरु–उपासक–भक्ति – मिथ्या गुरु के सेवक व्यक्तियो की सगति करना एव उनके गलत कार्यो मे सहयोग देना।

(6) असत्य धर्म – उपासक मिथ्या धर्म के साधक जन का ससर्ग करना एव उसके प्रचार–प्रसार मे सहयोग देना।

(घ) तीन मूढ़ताएं :

(1) देव–मूढ़ता – अन्ध श्रद्धालु बनकर अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए देवी–देवताओ को परमात्मा समझकर उन्हे बलिदान देना, उनसे वरदान मॉगना एव उन्हें जगत् का कर्ता, धर्ता एव हर्ता स्वीकार करना।

(2) लोक–मूढ़ता – अन्ध श्रद्धा से हित–अनहित का विवेक किये बिना अनेक निरर्थक क्रियाओ मे प्रवृत्त होना जिनसे न तो आत्मा की शुद्धि होती है और न समाज एव देश का ही विकास होता है। जैसे संसार से मुक्ति के लिये अग्नि मे कूदकर प्राण देना, पर्वत पर चढना एव गिरना। विभिन्न प्रकार के सक्रामक रोग–प्लेग, चेचक आदि का, वर्षा या अकाल आदि को देवो का प्रकोप मानना। धन को लक्ष्मी समझकर पूजन करना आदि।

(3) गुरु–मूढ़ता – कषाय के वशीभूत विभिन्न प्रकार के भेष धारण कर अपनी प्रशसा एव पूजा–भक्ति के इच्छुक, विषय–लोलुपी, मदिरा सेवी, अपने को गुरु कहलाने के इच्छुक दुश्चरित्र व्यक्तियो को गुरु मान कर पूजना एव उनकी सगति करना गुरु–मूढता है।

इस प्रकार सम्यक् दर्शन को धारण करने का इच्छुक प्रत्येक भव्य मानव अवश्य ही इन पच्चीस दोषो का परिहार एव अष्ट अगो का मन, वचन और काय से आह्लादित होकर धारण करने की ओर प्रवृत्त होगा। अस्तु, एक अक्षर या मात्रा–रहित अथवा दोष सहित सच्चा मन्त्र भी जब अपने अभीष्ट फल की सिद्धि मे असमर्थ रहता है उसी प्रकार एक गुण–रहित अथवा एक ही दोष–सहित सम्यक् दर्शन भी जीवन की शुद्धि और ससार परम्परा का उन्मूलक नही हो सकता है।

प्रश्न 63 : तत्त्व कितने होते हैं और उनका संक्षिप्त स्वरूप क्या है ?

उत्तर : तत्त्व सात होते है–—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष इनका सक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है।

(1) जीव – जो ज्ञायक स्वभावी होता है, उसे जीव कहते है। जैसे आत्मा।

(2) अजीव – जो चेतना शक्ति से रहित होता है, उसे अजीव कहते हैं। जैसे–कर्म।

(3) आस्रव – कर्मों के आने को आस्रव कहते है। जैसे–नाव मे छिद्र से पानी का आना।

(4) बन्ध – आते हुए कर्मों का आत्मा से सयोग हो जाना बन्ध कहलाता है। जैसे–आये हुए पानी का नाव मे भर जाना।

(5) संवर – कर्मों का आना रुक जाना, सवर कहलाता है। जैसे–छिद्र बद करने से नाव मे पानी का आना रुक जाना ।

(6) निर्जरा – आत्मा का कर्मो से एक देश छूट जाना, निर्जरा कहलाता है। जैसे–नाव मे भरे हुए पानी को उलीचना।

(7) मोक्ष – आत्मा का कर्मों से पूर्णत· मुक्त हो जाना, मोक्ष कहलाता है। जैसे–नाव मे भरा सारा पानी निकल जाना।

प्रश्न 64 : निश्चय एवं व्यवहार सम्यक् ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : निश्चय एव व्यवहार सम्यक् ज्ञान–समस्त पर पदार्थों एवं रागद्वेषादि विकारी भावो से रहित आत्मा के यथार्थ शुद्ध स्वरूप के सहज भाव ज्ञान को निश्चय सम्यक् ज्ञान कहते है। एव सात तत्त्वो एव सच्चे देव शास्त्र गुरु के यथार्थ ज्ञान को व्यवहार सम्यक् ज्ञान कहते है।

मूलत विचार किया जाये तो सम्यक् ज्ञान श्रुतज्ञान का विषय है जबकि सम्यक् दर्शन श्रुतज्ञान से परे श्रद्धा का विषय है, किन्तु इस सम्यक् दर्शन की उत्पत्ति के साथ ही सम्पूर्ण ज्ञान सम्यक् ज्ञान नाम प्राप्त कर लेते है।

मोक्षमार्ग मे प्रयोजन भूत सात तत्त्वों का सशय, विपर्यय एव अनध्यवसाय से रहित ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहते है। इस सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति सम्यक् दर्शन के साथ नियम रूप से हो जाती है।

निश्चय सम्यक् ज्ञान साध्य रूप है एव व्यवहार सम्यक् ज्ञान उसका साधन है क्योकि सात तत्त्वो के यथार्थ श्रद्धान के बिना अपने

शुद्ध स्वभाव का ज्ञान नही हो सकता एव उसके यथार्थ ज्ञान के बिना हमे सात तत्त्वो का यथार्थ परिज्ञान नही कहा जा सकता। क्योंकि सम्यक् ज्ञान का मूलत इतना ही कार्य है कि मिली हुई सयुक्त पर्याय मे से शुद्ध आत्म तत्त्व एव उसकी विकारी पर्यायो को अलग–अलग बिल्कुल स्पष्ट कर देना, जिससे अपने शुद्ध स्वरूप की प्रतीति और ज्ञान कर उसकी प्राप्ति के लिए **हम सम्यक् पुरुषार्थ** कर सके। अत निश्चय और व्यवहार एक ही **सिक्के के** दो **पहलू** है। जिस समय एक प्रधान होगा उसी समय दूसरा अभाव रूप न होकर, केवल गौण रूप हो जायेगा। चूँकि नय एव प्रमाण श्रुतज्ञान के विषय हैं और निश्चय एवं व्यवहार ये दोनों परस्पर सापेक्ष नय के कथन है। अत: जिस सम्यग्ज्ञान की उपस्थिति से श्रुतज्ञान भी सत्य रूप होता है तो दोनो नय भी पूर्ण सत्य रूप होगे, क्योकि वे श्रुतज्ञान के ही भेद है।

प्रश्न 65 : निश्चय एवं व्यवहार सम्यक्चारित्र किसे कहते हैं?

उत्तर : निश्चय एव व्यवहार सम्यक्चारित्र–अपनी आत्मा मे रमे रहने को अर्थात् ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहने को निश्चय सम्यक्चारित्र कहते हैं। जो चारित्र निश्चय सम्यक्चारित्र का पूरक हो उसे व्यवहार सम्यक्चारित्र कहते है।

सम्यक् दर्शन एव सम्यक् ज्ञान साक्षात् मोक्ष का कारण नही है किन्तु सम्यक्चारित्र, दर्शन एव ज्ञान के साथ एकाकार होकर नियम रूप से मोक्षमार्ग बनाता है। सम्यक्चारित्र के बिना इस जीव को मोक्ष प्राप्त नही हो सकता। यह जीव सम्यक् दर्शन एव सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर यही इस ससार मे 66 सागर के लम्बे काल तक भ्रमण करता रहता है परन्तु सम्यक्चारित्र प्राप्त कर वही जीव अन्तर्मुहूर्त मे भी ससार बन्धन को छेदकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

सम्यक्चारित्र का वर्णन करते हुए आचार्यो ने लिखा है कि मोह अर्थात् मिथ्यात्व एव क्षोभ अर्थात् राग–द्वेष से रहित आत्मा की जो निर्मल परिणति है वही सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार की दशा प्राप्त हो जाने पर आत्मा–स्वभाव मे जो तल्लीनता या स्थिरता होती है उसे

निश्चय सम्यक्चारित्र कहते है। यह निश्चय सम्यक्चारित्र साध्य रूप है एवं इस निश्चय सम्यक्चारित्र की प्राप्ति मे जो नियम रूप से न केवल सहायक हो बल्कि उसका पूरक हो उसे व्यवहार सम्यक्चारित्र कहते है। जो व्यवहार चारित्र की प्राप्ति मे हेतु नही होता है उसे तो केवल व्यवहाराभास कहा गया है एव जो निश्चयचारित्र व्यवहारचारित्र का साध्य नहीं है उसे भी आचार्यों ने केवल निश्चयाभास कहा है। आगम मे तो सम्यग्दृष्टि के ही व्यवहार सम्यक्चारित्र स्वीकार किया गया है। मिथ्यादृष्टि के तो इसकी प्राप्ति बनती ही नहीं है।

चूँकि निश्चय सम्यक्चारित्र साध्य है एव व्यवहार सम्यक्चारित्र उसका साधन है। अत निश्चय सम्यक्चारित्र साध्य का लक्ष्य रखते हुए व्यवहार सम्यक्चारित्र में प्रवृत्ति ही सम्यक् दृष्टि का मूल पुरुषार्थ है।

यह व्यवहार सम्यक्चारित्र एक देश एव सकल देश के भेद से दो प्रकार का होता है। एक देश चारित्र को श्रावक धर्म कहते है एव सकल देश चारित्र को महाव्रत एवं मुनि धर्म कहा जाता है। प्रथम का पालन श्रावक एव द्वितीय का पालन श्रमण सन्त करते है। आचार्यों ने अणुव्रतो को भी न केवल पुण्यार्जन के हेतु ही, बल्कि महाव्रतो एव निर्जरा के साधन के रूप मे ही स्वीकार किया है।

मुनियो के महाव्रतो का पूर्ण वर्णन उनके मूलगुण वर्णन के समय किया जा चुका है। यहा पर श्रावक के लिए अवश्य पालनीय देश चारित्र का वर्णन किया जाता है। श्रावक के इस देश चारित्र का पालन करुणानुयोग की दृष्टि मे चारित्र मोहनीय कर्म की एक प्रकृति अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया एव लोभ के क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर ही होता है। इसके पालन के पूर्व सात प्रकृतियो के क्षय, उपशम या क्षयोपशम के द्वारा वह सम्यक् दर्शन को प्राप्त कर चुका होता है। चरणानुयोग की दृष्टि से देश चारित्र के बारह भेद होते है। पॉच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत जिनका पालन श्रावक करता है। 'श्रावक' शब्द का अर्थ होता है श्रद्धावान्, विवेकी एव क्रियावान् मनुष्य। जिसमे इन गुणो का समावेश हो, उसे श्रावक कहते है। वही इन बारह व्रत रूप, चारित्र का सम्यक् पालन कर सकता है। (इन बारह व्रतो का विवेचन तृतीय खण्ड मे किया जायेगा।)

प्रश्न 66 : उपादान किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो स्वय कार्य–रूप परिणत हो, उसे उपादान कहते है। कार्य उत्पन्न होने के या एक समय पूर्ववर्ती पर्याय को उपादान कहते है अथवा कार्य–रूप परिणामने की अन्तरंग शक्ति को उपादान कहते हैं।

'उपादान' शब्द उस पदार्थ या शक्ति का बोधक है जो सहायक कारण (निमित्त) के मिलने पर अपनी योग्यता से कार्य मे बदल जाता है। जैस–रोटी का उपादान कारण कच्ची रोटी की वह अवस्था जिसे अग्नि मे सेका जाता है। यही कार्य उत्पन्न होने की एक समय पूर्ववर्ती रोटी की पर्याय, रोटी की उत्पत्ति का साक्षात् या मूल हेतु है। यहॉ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यद्यपि रोटी का उपादान कारण आटा है किन्तु रोटी का कार्य भी उत्पत्ति भी नियम रूप से तब तक नही हो सकती जब तक उसके उत्पन्न होने मे सहायक कारण पानी–बेलना, तवा एव अग्नि–रसोई आदि उपस्थित न हो, और वे साधन पुरुषार्थ पूर्वक मिलाये जाते है। आटा रखा है, उपादान (रोटी) रूप बदलने की योग्यता उसमें है। किन्तु सहायक कारणो को जब तक प्रयत्नपूर्वक नही मिलाया जाता, तब तक वह रोटी रूप मे नही बदल सकेगी। "अर्थात् निमित्त के बिना उपादान कार्य–रूप मे परिणत नही हो सकता।"

इसी प्रकार यद्यपि भव्य आत्मा मे मोक्ष प्राप्त करने की उपादान रूप योग्यता सदाकाल विद्यमान है परन्तु जब तक पुरुषार्थपूर्वक अणुव्रत एव महाव्रत रूप चारित्र का सम्यक् परिपालन नही किया जायेगा, तब तक केवल उपादान की योग्यता से ही त्रिकाल मे भी मोक्ष प्राप्ति सम्भव नही है। अत स्पष्ट है कि उपादान स्वय ही कार्यरूप परिणमता है, किन्तु बिना निमित्त के वह भी कार्य रूप परिणामने मे असमर्थ होता है। अत प्रयत्नपूर्वक उपादान का यथार्थ स्वरूप समझकर निमित्त की उपयोगिता को भी निष्पक्ष रूप से स्वीकार करना चाहिए। तभी जैन धर्म के आधारभूत सिद्धान्त अनेकान्तात्मक–स्याद्वाद का यथार्थ अवधारण सम्भव है।

प्रश्न 67 : निमित्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो कार्य रूप परिणत उपादान में सहायक हो अथवा जिसके बिना कार्य की उत्पत्ति न हो, उसे निमित्त कहते हैं।

अथवा कार्य की उत्पत्ति मे जो सहायक हो, उसे निमित्त कहते है। यहाँ सहायक का तात्पर्य है कि जिसकी अनुपस्थिति में कार्य ही न हो सके, उसे निमित्त (समर्थ कारण) कहते है। यद्यपि निमित्त स्वय कार्य रूप परिणत नही होता किन्तु उसकी अनुपस्थिति में कार्य की उत्पत्ति सभव नही है। उदाहरणार्थ वृक्ष की उत्पत्ति यद्यपि बीज से होती है किन्तु उसके निकालने मे वायु, पानी एव मिट्टी भी निमित्त है। इनके अभाव मे अंकुर की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

निमित्त भी दो प्रकार के होते है। एक तो वे जो पुरुषार्थपूर्वक मिलाये जाते है, दूसरे वे जो स्वय मिल जाते है। यहाँ ऐसा एकान्त नही है कि उपादान की योग्यता पर निमित्त मिलेगा ही मिलेगा अथवा निमित्त अकिंचित्कर होता है। पण्डित टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक मे स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि पुत्र का अर्थी शादी तो पुरुषार्थ–पूर्वक करे ही करे न कि उपादान पर छोड दे क्योकि पत्नी बिना पुत्र तो हो ही नही सकता, फिर पत्नी के होते हुए पुत्र की उत्पत्ति होना या न होना उसके भवितव्य के अधीन है। इससे बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि मूल निमित्त (समर्थ कारण) तो पुरुषार्थपूर्वक मिलाया जाता है तथा अन्य अनिवार्य आवश्यक निमित्त जिसको बुद्धिपूर्वक मिलाया नही जा सकता, वे भवितव्यता पर छोड दिये जाते है। क्या कारण था कि यद्यपि भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हो जाने पर दिव्य ध्वनि खिरने रूप उपादान की योग्यता प्रकट हो चुकी थी फिर भी छियासठ दिनो तक दिव्य ध्वनि नही खिरी। यह निमित्त की ही ताकत थी, क्योकि योग्य गणधर उपस्थित नही था एव सौधर्म इन्द्र के मन मे भी पैसठ दिनो तक यह विचार क्यो नही उत्पन्न हुआ कि दिव्य ध्वनि न खिरने का कारण इन्द्रभूति नामक गणधर की उपस्थिति का न होना था। वीरसेनाचार्य ने जयधवला मे केवलज्ञान उत्पत्ति के बाद छियासठ दिन तक देशना प्रगट न होने का कारण

स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि सौधर्म इन्द्र भी काललब्धि के अभाव में तत्काल योग्य गणधर की तलाश नही कर सका। इससे स्पष्ट है कि निमित्त अकिंचित्कार नही है, न ऐसा ही है कि उपादान की योग्यता होने पर निमित्त अपने आप मिल जायेगा, बल्कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निमित्त को पुरुषार्थपूर्वक भी मिलाना पडता है।

अत कार्य की उत्पत्ति मे सहायक कारण को जो निमित्त मात्र कहा जाता है। वहॉ 'मात्र' शब्द का तात्पर्य इतना ही है कि निमित्त स्वय कार्यरूप नही परिणमता। इसका यह अर्थ कदापि नही है कि निमित्त अकिंचित्कर होता है क्योकि निमित्त कहा ही उसे जाता है, जिसके अभाव में उपादान कारण, योग्यता होने पर भी, कार्यरूप में नही बदल (परिणमन) सकता। अत निमित्त के यथार्थ स्वरूप को समझकर हमे सत्य का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए।

प्रश्न 68 : मोक्षमार्ग का यथार्थ ज्ञान किसके माध्यम से होता है?

उत्तर : मोक्षमार्ग का यथार्थ ज्ञान नय एव प्रमाण के माध्यम से होता है।

प्रश्न 69 : प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर : सम्यक् ज्ञान को प्रमाण कहते है अथवा जो द्रव्य की समस्त अवस्थाओ को, अस्ति–नास्ति उभय पक्ष को एक साथ जाने, उसे प्रमाण कहते है। इस मूर्तमान् विश्व का प्रत्येक पदार्थ रहस्यमय है। एक ही पदार्थ मे अनेक विरोधी गुण एक साथ एक ही समय में उपस्थित हैं। प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है, अपनी सत्ता को शाश्वत कायम रखते हुए सतत गति से प्रवाहमान है। प्रत्येक वस्तु अपनी सत्तारूप केवल कूटस्थ नित्य न होकर के क्षणिक अर्थ या व्यजन पर्याय से सदाकाल परिवर्तित होते हुए अर्थ क्रियाकारित्व गुण से परिपूर्ण है।

ऐसा अनेकान्तात्मक वस्तु का अधिगम करते समय उसमे उपस्थित उसके परस्पर विरोधी धर्मों को एक समय मे एक ही साथ कहा नही जा सकता, उसका यथार्थ ज्ञान तो क्रम से उसके एक–एक धर्म को लेकर उसका निरूपण करते हुए, समस्त धर्मो को एक साथ मिला देने

पर ही किया जा सकता है क्योकि शब्दों मे इतनी सामर्थ्य नही है कि वे एक साथ किसी निश्चित शब्द के द्वारा किसी एक धर्म के प्रतिपादन के सिवाय शेष अन्य धर्मों का अकन द्योतन (मूल्याकन) भी कर सके।

स्वकीय अज्ञान की निवृत्ति करना जिसका प्रयोजन है वह स्वार्थ ज्ञान कहलाता है और परकीय अज्ञान की निवृत्ति करना जिसका प्रयोजन है वह परार्थज्ञान कहा जाता हैं मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये चार ज्ञान स्वार्थ ही है। परन्तु श्रुतज्ञान स्वार्थ और परार्थ दोनों रूप होता है। भावात्मक श्रुत स्वार्थ कहलाता है और वचनात्मक श्रुत परार्थ कहलाता है। नय श्रुतज्ञान के विकल्प है। पदार्थ मे नित्य–अनित्य, एक–अनेक आदि परस्पर विरोधी बहुत धर्म रहते है। उन धर्मों में से नय आवश्यकतानुसार किसी एक धर्म को मुख्यता देता हुआ ग्रहण करता है और शेष धर्मो को उस समय अनावश्यक समझ गौण कर देता है, सर्वथा छोडता नही है।

श्रुतज्ञान की इस शब्द प्रवृत्ति को नय कहा जाता है। जितने शब्द है, उतने ही नय होते है एव पदार्थ को सम्पूर्ण रूप से जानने रूप श्रुत ज्ञानादि की प्रवृत्ति को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण से वस्तु को केवल जाना जा सकता है एव नय से पदार्थ मे रहने वाले धर्मों का क्रमश कथन किया जाता है। जिस समय वक्त वस्तुगत किसी विशेष धर्म को लेकर उसका ज्ञान करता है या कराता है, उस समय उसकी दृष्टि में वस्तु मे अन्य धर्म उपस्थित होकर भी गौण रूप मे होते हैं । इस प्रकार प्रत्येक नय सापेक्ष रहकर वस्तु के अधिगम का मूल हेतु बनता है, किन्तु जब वही नय निरपेक्ष रहकर वस्तुगत अन्य धर्मों का निषेध करता है तो उसी समय वह एकान्त एव दुर्नय बन जाता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रमाण किसी वस्तु का कथन सामान्य रूप मे कर सकता है। जैसे–यह आम है, किन्तु नय के द्वारा उसकी वस्तुगत विशेषताओ को बतलाया जा सकता है। जैसे–आम पीला भी है, मीठा भी है, प्रमाण के द्वारा उसके समस्त धर्मो को केवल जाना जा सकता है। इससे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि नय एव प्रमाण वस्तु के अधिगत के मूल हेतु है।

प्रश्न 70 : प्रमाण के कितने भेद हैं?

उत्तर : आचार्यो ने प्रमाण का वर्णन करते हुए लिखा है कि सम्यक् ज्ञान ही प्रमाण है। अर्थात् पदार्थ का यथार्थ समग्र रूपेण जिससे होता है वह प्रमाण है। स्वरूप की अपेक्षा से प्रत्येक ज्ञान प्रमाण ही होता है, किन्तु ज्ञान मे प्रमाणता एव अप्रमाणता का विभाग बाह्य पदार्थ को सम्यक् या मिथ्या रूप मे जानने से होता है।

मूल मे सम्यक् ज्ञान के पॉच भेद किये गये है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। इन पॉच ज्ञानों मे से श्रुतज्ञान के सिवाय चार ज्ञान प्रमाण रूप ही है अर्थात् वस्तु के सब धर्मो को एक साथ ग्रहण करते है। पर, श्रुतज्ञान नय एव प्रमाण दोनो रूप होता है। वह वस्तु के एकदेश को भी एव सकलदेश को भी ग्रहण करता है। प्रमाण वस्तु को अखण्ड रूप में ग्रहण करता है। प्रमाण के दो भेद है–परोक्ष प्रमाण एव प्रत्यक्ष प्रमाण।

प्रश्न 71 : परोक्ष प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर : परोक्ष प्रमाण उसे कहते है जो किसी बाह्य निमित्त की सहायता से पदार्थ को समग्र रूप से ग्रहण करता है। मतिज्ञान एव श्रुतज्ञान को परोक्ष प्रमाण कहा गया है क्योकि इनका विषय–ज्ञान इन्द्रियो एव मन की सहायता के बिना सम्भव नही है।

प्रश्न 72 : प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर : प्रत्यक्ष प्रमाण उसे कहते हे जो बिना किसी बाह्य सहायता के पदार्थ को ग्रहण करता है। अवधिज्ञान, मनपर्ययज्ञान एव केवलज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा गया है क्योकि ये तीनो ज्ञान बिना किसी बाह्य साधन की अपेक्षा किये सीधे आत्मा से ही उत्पन्न होते है। इनमे से भी अवधिज्ञान एव मनपर्ययज्ञान को एकदेश प्रत्यक्ष कहते है क्योकि ये ज्ञान सम्पूर्ण पदार्थो को न जानकर अपनी सीमा के अन्दर के पदार्थो को अर्थात् एकदेश पदार्थो को जानते है। जवकि केवलज्ञान को

सकल–प्रत्यक्ष कहा जाता है, क्योकि वह सम्पूर्ण पदार्थों को युगपत् सम्पूर्ण रूप से जानता है।

प्रश्न 73 : नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो प्रमाण से जाने हुए पदार्थो के एक अश को जाने, उसे नय कहते है।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वक्ता की विवक्षा विशेष को नय कहा जाता है। वह पदार्थ के सम्पूर्ण स्वरूप का द्योतक न होकर उसके किसी धर्म–विशेष का यथार्थ रूप से ज्ञान कराता है। प्रत्येक नय सापेक्ष रहकर ही वस्तु के यथार्थ स्वरूप की सत्ता को बनाये रखने मे समर्थ होता है, किन्तु निरपेक्ष होने पर कथित वस्तु के अस्तित्व के ही घातक हो जाते है एव दुर्नय बन जाते है।

प्रश्न 74 : नय के कितने भेद हैं ?

उत्तर : मूलत· नय के दो भेद है–एक व जो पदार्थ के शाश्वत अबाधित एव प्रमाण–सिद्ध स्वरूप का कथन करते है, अर्थात् जो वस्तु के त्रिकाली सत्ता स्वरूप को अपना विषय बनाते है एव दूसरे जो वस्तु मे सदाकाल परिवर्तित होने वाले गुण–विशेष अर्थात् पर्याय को अपना विषय बनाते है–प्रथम नय–द्रव्यार्थिक नय एव द्वितीय नय पर्यायार्थिक नय कहे जाते है। प्रथम नय के तीन भेद एव द्वितीय नय के चार भेद किये गये है।

द्रव्यार्थिक नय के तीन भेद है–नैगम नय, सग्रह नय, और व्यवहार नय। पर्यायार्थिक नय के चार· भेद है–ऋजुसूत्र नय, शब्द नय, समभिरूढ नय तथा एवभूत नय।

(1) नैगम नय – जो नय पदार्थ मे उत्पन्न होने वाले अथवा उत्पन्न हो चुकने वाले सकल्प को वर्तमान समय मे ग्रहण करता है उसे नैगम नय कहते है। यह पदार्थ मे भूतकाल मे उत्पन्न हुई एव भविष्यत् काल मे उत्पन्न होने वाली पर्यायो की अपेक्षा वर्तमान पदार्थ को उस रूप कहता है, इसकी अपेक्षा तीन भेद हो जाते है।

(क) भूत नैगम नय – जो नय भूतकाल सम्बन्धी पर्याय को वर्तमान काल मे आरोपण करके सस्थापन करके कहता है उसको भूत नैगम नय कहते है जैसे–आज दीपावली के दिन श्री महावीर स्वामी मोक्ष गये।

(ख) भावि नैगम नय – जो नय आगामी काल भविष्य मे होने वाली पर्याय को वर्तमान काल मे कथन करता है वह भावी नैगम नय है। जैसे–श्री अरहन्त भगवान अभी सिद्ध नही है आगामी काल में होवेंगे–उन अरहन्त भगवान को जो नय सिद्ध रूप से कथन करता है वह भावी नैगम नय है।

(ग) वर्तमान नैगम नय – प्रारम्भ किये गये किसी कार्य को ईषत् निष्पन्न (थोडी बनी हुई) अथवा अनिष्पन्न (बिलकुल नही बनी हुई) वस्तु को पूर्ण हुआ कह देना वर्तमान नैगम नय है। जैसे–कोई पुरुष भात बनाने की सामग्री इकट्ठी कर रहा था, किसी ने पूछा–क्या कर रहे, तो कहता है कि भात बना रहा हूँ।

(2) संग्रह नय – जो नय 'विशेष' की उपेक्षा कर सामान्य रूप मे पर्याय को ग्रहण करता है उसे सग्रह नय कहते है। जैसे–सत् कहने से छहो द्रव्यो को ग्रहण करना। यहाँ एक शब्द द्वारा ही सामान्य की अपेक्षा से छह द्रव्यों का ग्रहण हुआ है। विशेष रूप से उनका ग्रहण एक साथ नही हो पाता, क्योंकि उनके गुण–धर्म अलग–अलग है।

(3) व्यवहार नय – सग्रह नय के द्वारा सामान्य रूप से ग्रहण किये गये पदार्थों को जो भेद रूप से ग्रहण करता है उसे व्यवहार नय कहते है। यह नय तब तक भेद करता जाता है जहाँ तक वे किये जा सकते है। जैसे–सत् कहने पर समस्त द्रव्य सगृहीत (सामान्य) रूप से कहे जा सकते है, परन्तु व्यवहारमय उन्हे छह द्रव्य रूप भेदो मे बॉटेगा। छह द्रव्यो मे से जीव–द्रव्य के चार गतियो की अपेक्षा चार भेद करेगा। फिर प्रत्येक गति मे पाये जाने वाले जीव मे क्षेत्र, काल भाव आदि की अपेक्षा से भेद करेगा। इस तरह वहाँ तक भेद करता जायेगा जहाँ सम्भव है।

पर्यायार्थिक नय के भेद

(1) ऋजुसूत्र नय – जो नय मात्र वर्तमान समय की पर्याय को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्र नय कहते है। इसके दो भेद हैं–

(2) सूक्ष्मऋजुसूत्र नय – जो नय वर्तमान एक समय की पर्याय को ग्रहण करता है उसे सूक्ष्मऋजुसूत्र नय कहते है।

(3) स्थूल ऋजुसूत्र नय – जो नय किसी निश्चित काल तक रहने वाली पर्याय को (पर्याय की अपेक्षा से रहने वाली एकरूपता से) वर्तमान समय मे स्वीकार करके उसे अपना विषय बनाता है उसे स्थूल ऋजुसूत्र नय कहते है। जैसे – मनुष्य की पर्याय को अपना विषय बनाना। यद्यपि मानव–शरीर मे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है किन्तु इस परिवर्तन की उपेक्षा कर एक निश्चित काल तक रहने की अपेक्षा वह स्थूल ऋजुसूत्र नय का विषय है।

(4) शब्द–नय – जो लिग, कारक एव वचन की अपेक्षा शब्दो को अलग–अलग मानता है अर्थात् उसमे भेद करता है उसे शब्द नय कहते है। जैसे–दार, स्त्री, कलत्र यद्यपि ये तीनो शब्द एकार्थवाची है किन्तु शब्द–नय इन तीनो मे लिग की दृष्टि से भेद स्वीकार करता है। इसके अनुसार दार पुलिग का, स्त्री शब्द स्त्रीलिग का एव कलत्र शब्द नपुसकलिग का है। अत. एकार्थवाची होते हुए भी भिन्न–भिन्न है।

(5) समभिरूढ नय – जो नय किसी शब्द विशेष के अन्वय या निरुक्ति आदि अर्थ को ग्रहण न कर, रूढ अर्थात् प्रचलित अर्थ को ही ग्रहण करता है उसे समभिरूढ नय कहते है। जैसे- पकज, इसका निरुक्ति अर्थ पक अर्थात् कीचड 'ज' अर्थात् उत्पन्न होने वाला अर्थात् कीचड मे उत्पन्न होते है। अत पकज शब्द कहने से दोनो का बोध होना चाहिए किन्तु यह नय पकज शब्द के रूढ अर्थ कमल को ही स्वीकार करता है, न कि पूर्णत उसके निरुक्ति अर्थ को।

(6) एवंभूत नय – जो क्रिया जिस अर्थ मे गृहीत होती है उसे उस रूप मे ही स्वीकार करने वाले नय को एवभूत नय कहते है। जैसे किसी मनुष्य को उसी समय पुजारी कहना जब वह पूजा कर रहा हो, जब वह रसोई बनाता है तब उसे पुजारी न कहकर रसोइया ही कहना।

इस तरह से ये नय विषय की दृष्टि से क्रमश· सूक्ष्म होते है। इनमे से प्रथम तीन नय अर्थ नय एव शेष चार नय शब्द नय भी कहलाते हैं। दूसरे वर्गीकरण के अनुसार प्रथम तीन नय द्रव्य नय (द्रव्य को अपना विषय करने की अपेक्षा (एव शेष चार नय पर्याय को अपना विषय करने की अपेक्षा) कहलाते है।

अभी ऊपर जिन नयों का वर्णन किया गया है, उनमें सामान्य एव विशेष रूप पदार्थ पूर्ण रूप से हो जाता है। किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र मे मुख्य रूप से दो नयो को स्वीकार किया गया है। निश्चय नय एव व्यवहार नय।

प्रश्न 75 : निश्चय नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो नय यथार्थ त्रिकाली स्वभाव या उपादान को मुख्य करे, उसे निश्चय नय कहते है।

निश्चय–नय जीव के त्रिकाली शुद्ध टंकोत्कीर्ण स्वभाव को या जीव की उपादान रूप शक्ति–विशेष को अपना विषय स्वीकारता है वह उसकी वर्तमान विकारी पर्याय को स्वभाव के साथ त्रिकाल व्यापी न होने से अस्वीकार करता है यह निश्चय नय न तो बन्ध को स्वीकार करता है और न मोक्ष को ही । अत सप्त नय की व्यवस्था भी इस नय से नही बन पाती । यह जीव के सत्य रूप को ही अपना विषय बनाता है। अत इसे भूतार्थ कहा जाता है। यद्यपि यह नय आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ही अपना मुख्य विषय बनाता है किन्तु वर्तमान विकारी पर्याय की भी सर्वथा उपेक्षा न कर उसे गौण रूप मे स्वीकार करता है एव उसको समाप्त कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति के लिए हमे प्रयत्न की प्रेरणा देता है।

प्रश्न 76 : व्यवहार नय किसे कहते हैं ?

उत्तर : सयोगी पर्याय अथवा निमित्त को जो नय प्रधान कर, उसे व्यवहार नय कहते है। व्यवहार नय कर्म के सम्बन्ध से होने वाली वर्तमान अशुद्ध–पर्याय का दिग्दर्शन करता है यह नय जीव की पूर्ण शुद्ध दशा को गौण कर वर्तमान समय मे होने वाली विकारी पर्याय को अपना

मुख्य विषय बनाता है एवं उस विकारी पर्याय के कारण कार्य को यथावत् रूप मे स्वीकार करता है। शक्ति की अपेक्षा आत्मा पूर्ण शुद्ध है किन्तु वर्तमान समय में उसकी जो राग–द्वेषादि रूप विभाव परिणति हो रही है इसका कारण उसके साथ रहने वाला द्रव्य कर्म, जिसके कर्मरूप परिणति पुद्गल परमाणु आत्मा की राग–द्वेषादि रूप विभाव परिणति से आत्मा के प्रदेशों के साथ एक क्षेत्रावगाही होकर रह रहे हैं। इस कथन को व्यवहार नय स्वीकार करता है और पुरुषार्थ द्वारा व्यवहार एव निश्चय रूप रत्नत्रय की साधना करके अपने शुद्ध–रूप की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार व्यवहार नय भी निरपेक्ष न होकर, निश्चय को मुख्य न कर, गौण रूप मे स्वीकार करता है। ससार का समस्त कार्य केवल व्यवहार नय से ही चलता है। यदि उसे अस्वीकार कर दिया जाये तो ससार का समस्त व्यवहार समाप्त हो जाने से विचित्र स्थिति पैदा हो जायेगी। सप्त तत्त्व की व्यवस्था समाप्त हो जायेगी, क्योकि आत्मा एवं पुद्गल दोनो ही स्वभाव रूप से शुद्ध है। अत. कर्त्ता–कर्मभाव की सम्पूर्ण मान्यता असफल हो जायेगी।

नोट – इन नयो के भेद–प्रभेदों की विवेचना द्वितीय खण्ड मे की जायेगी।

प्रश्न 77 : कौन नय सच्चा है और कौन नय झूठा है ?

उत्तर : दूसरे नय की अपेक्षा रखते हुए सभी नय सत्य है किन्तु निरपेक्ष नय मिथ्या है।

"निश्चय नय सत्य है या झूठा, अथवा व्यवहार नय सत्य है या झूठा।" यह प्रश्न ही उत्पन्न नही होता, क्योकि एक नय के अभाव मे दूसरे नय का अस्तित्व ही नही रहता है। हमारा मूल लक्ष्य नयवाद मे उलझना नही है, बल्कि उनके माध्यम से उस वस्तु तत्त्व को समझना है जो दोनो से परे एक अखड ध्रुव तत्त्व है। दोनो ही नय उसके अधिगम (ज्ञान) मे वस्तु है। अत उनमे सत्य होने अथवा झूठ होने का प्रश्न ही पैदा नही होता । एक नय के सापेक्ष होने से दूसरे नय की स्थिति बनती है।

अत स्पष्ट है कि 'नय साध्य नही है, बल्कि पदार्थ के जानने के

साधन है।" यह आपकी कला है कि आप उन्हे समझकर, बिना किसी उलझन मे पडकर, अपना काम निकाल ले। अत कौन नय सच्चा है एव कौन नय झूठा ? यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्येक नय अपनी--अपनी जगह पूर्ण है। निश्चय नय के अभाव मे व्यवहार नय अन्धा है तथा व्यवहार नय के अभाव मे निश्चय नय पगु है। हमारा लक्ष्य तो दोनों नयो की सहायता से अपना काम निकालकर अपने शुद्ध आत्म–स्वरूप की प्राप्ति करना है, न कि नयवाद मे उलझना।

प्रश्न 78 : निश्चय नय उपादेय है या व्यवहार नय भी ?

उत्तर : मोक्षार्थी बन्धुओ! सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि निश्चय एव व्यवहार दोनो नय साथ रहते है, यही कारण है कि उनको नय कहा जाता है। एक नय के बिना दूसरा नय मिथ्या नाम पाता है हॉ, इतना अवश्य है कि श्रद्धा और ज्ञान तो दोनो नयो का युगपद् होता है परन्तु आचरण क्रमश अपने–अपने पदानुसार होता है। चतुर्थ गुणस्थान से सप्तम तक एव सप्तम से बारहवे गुणस्थान तक पहुॅचने मे निश्चित रूप से नय साथ देते है अर्थात् सप्तम गुणस्थान तक गति कराने वाला व्यवहार नय है और सप्तम से बारहवे गुणस्थान तक पहुॅचने मे निश्चय नय साथ देता है अर्थात् सप्तम गुणस्थान पर्यन्त व्यवहार नय उपादेय है और सप्तम से अन्तिम बारहवें गुणस्थान तक के महामुनियों के लिए निश्चय नय उपादेय है।

"व्यवहार नय भी उपादेय है"–इस नाम से एक लेख (जैन–दर्शन में) पढा था, वह लेख पण्डित कैलाशचन्द्र सिद्धान्त–शास्त्री जी द्वारा समय प्राभृत की प्रस्तावना से उद्‌धृत था, जिससे आगम–प्रमाण से 'व्यवहार नय भी उपादेय है' यह सिद्ध किया गया था, वह लेख इस प्रकार है।

व्यवहार नय भी उपादेय है :

समय प्राभृत (गाथा 12)–पूज्य कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि जो परम भावदर्शी है, उनके लिए तो शुद्ध कथन करने वाला शुद्ध नय जानने योग्य हे किन्तु जो अपरम भाव मे स्थित है वे व्यवहार नय के द्वारा उपदेश करने के योग्य है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य जी की टीका के आधार पर पण्डित जयचन्द्र जी ने परमभावदर्शी का अर्थ किया है–"जे शुद्धनय ताई पहुँच श्रद्धावान् भये तथा पूर्णज्ञान चारित्रवान् भये। उन पुरुषों को परम भाव मे स्थित कह्या है। और जो श्रद्धा तथा ज्ञान के और चारित्र के पूर्ण भाव को नही पहुँचे है, साधक अवस्था मे स्थित है, उन पुरुषो को अपरम भाव मे स्थित कहा है।"

गाथा 12 के 'अपरमेट्ठिदा भावे" का अर्थ करते हुए परम पूज्य जयसेनाचार्य ने समयसार की टीका मे लिखा है–

"अपरमे अशुद्धे असयत–सम्यग्दृष्ट्यापेक्षया श्रावकापेक्षयावा सराग सम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसयतापेक्षया च भेदरत्नत्रय लक्षण वा ठिदा स्थिता।"

अर्थात्–सातवे गुणस्थान तक के जीव अपेक्षा–भेद से अपरम भाव मे स्थित है और उनके लिए व्यवहार से उपदेश करना योग्य है। समयसार की आत्मख्यातिवचनिका के प्रारम्भ मे पण्डित जयचन्द्र जी ने भी यह बात लिखी है। उन्होने लिखा है–

"बहुरि ऐसा जानना जो स्वरूप की प्राप्ति दोय प्रकार हैं"–प्रथम तो यथार्थ ज्ञान होय करि श्रद्धान रूप सम्यक् दर्शन होगा सो यह तो अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती के भी होय है। तहॉ बाह्य व्यवहार तो अविरत रूप ही रहै। तहॉ बाह्य व्यवहार अवलम्बन है ही। अर अन्तरग सर्वनय की अपेक्षाया–रहित अनेकान्त तत्त्वार्थ की श्रद्धा होय अर जहॉ तॉइ साक्षात् शुद्धोपयोग की प्राप्ति न होय, श्रेणी न चढे, शुद्धरूप व्यवहार का ही अवलम्बन है। बहुरि दूजा साक्षात् प्राप्ति होय, तामे व्यवहार का भी अवलम्बन नही और शुद्ध नय का भी अवलम्बन नही, जातै आप साक्षात् शुद्धोपयोग रूप भया, तब नय का भी आलम्बन काहे का ? नय का आलम्बन तो जेते राग तेतै ही था। ऐसे अपने स्वरूप की प्राप्ति भये पीछै साक्षात् वीतरागता होय तब चारित्र सम्बन्धी पक्षपात मिटे है। ऐसा नही जो साक्षात् वीतरागता भया नाही अर शुभ व्यवहार कूँ छोडि स्वछन्द प्रमादी होय प्रवर्ते ही दृढ भया।

अत स्पष्ट है "कि शुद्धोपयोग की दशा मे जो नही पहुँचे है, दूसरे

शब्दो मे, जो श्रेणी में स्थित नही है ऐसे सातवे गुण–स्थान पर्यन्त के जीव अपरम भाव मे स्थित है। उनके लिए व्यवहार–नय से उपदेश करना योग्य है किन्तु जो व्यवहार की सीमा का अतिक्रमण करके परमभाव मे स्थित है उनके लिए तो एक मात्र शुद्ध–नय ही प्रयोजन भूत है।

इस काल मे तो इस क्षेत्र मे सातवे गुणस्थान के ऊपर कोई जीव पहुँच ही नहीं सकता। अतः इस भरत–क्षेत्र मे जितने मनुष्य है ये सभी अपरम भाव मे स्थित हैं। अत कुन्दकुन्द स्वामी के आदेशानुसार व सब व्यवहार–नय के द्वारा उपदेश करने के योग्य हैं, उसी से उनका कल्याण हो सकता है।

प्रश्न 79 : निश्चय नय को आगम में भूतार्थ क्यों कहा है ?

उत्तर : निश्चय नय आत्मा के परनिरपेक्ष अर्थात् द्रव्य कर्म, भाव कर्म नौ कर्म से रहित त्रैकालिका शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करता है इसलिए भूतार्थ कहलाता है।

निश्चय नय को आगम के भूतार्थ कहा गया है। भूतार्थ का अर्थ होता है कि यथावत् (जैसा का तैसा)। चूँकि निश्चय नय पदार्थ का जैसा आत्मा को त्रिकालिक अखण्ड शुद्ध स्वभाव है उसको उस रूप में ही निरूपित करता है, उसके वर्तमान पर्याय को गौण कर देता है। परन्तु निमित्त कारण उसकी दृष्टि मे गौण रहता है, न कि उसका अभाव ही हो जाता है। निश्चय नय जहाँ शुद्ध आत्मा को त्रिकालिक ज्ञाता द्रष्टा–मात्र सिद्ध के समान निरूपित करता है वहाँ इसका तात्पर्य इतना ही है कि जीव का यथार्थ स्वरूप तो पर्याय की उपेक्षा न कर, उस शुद्ध दशा को प्रकट करने के लिए पुरुषार्थ करने की ओर प्रेरित करता है किन्तु जो अज्ञान या मान के वशीभूत होकर केवल आत्मा के शुद्ध (कर्म–मल–रहित) बुद्ध (केवलज्ञान युक्त) होने के गीत गाकर पुरुषार्थ हीन हो जायेगे, वे तो टोडरमल जी के शब्दो मे निश्चयभाषी मिथ्यादृष्टि ही कहे जायेगे। वे उस वस्तु तत्त्व को न समझकर केवल स्वप्न मे राजा बनने के समान अतीत–काल तक प्रवाहमान बनाये रखेगे।

प्रश्न 80 : व्यवहार नय को आगम में अभूतार्थ क्यों कहा है ?

उत्तर : यह द्रव्य के सयोगी पर्याय को भी विषय कहता है, इसलिए इसे अभूतार्थ कहते है।

व्यवहार नय को आगम में अभूतार्थ कहा गया है क्योकि यह पर्याय दृष्टि से द्रव्य की वर्तमान अशुद्ध पर्याय का भी कथन करता है। चूँकि वर्तमान विकारी पर्याय को समझे बिना शुद्ध पर्याय की ओर दृष्टि जाती नही, उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न होता नही है। अभूतार्थ शब्द का अर्थ यह नहीं है कि वह सत्य नही है या असत्य है बल्कि उसका तात्पर्य इतना ही है कि वह जीवद्रव्य की सादि अनन्तकाल तक रहने वाली शुद्ध त्रिकालिक अवस्था को वर्तमान समय मे स्वीकार नही करता। सस्कृत भाषा मे 'अ' अक्षर का अर्थ ईषत् अर्थात् किंचित् भी होता है यही अर्थ यहाँ अपेक्षित है, अर्थात् 'व्यवहार–नय' शाश्वत सत्य न होकर वर्तमान की दृष्टि से पूर्ण रूप से सत्य है, यही अभूतार्थ शब्द का अर्थ है।

प्रश्न 81 : निश्चय नय को समझना क्यों आवश्यक है ?

उत्तर : *इसके माध्यम से त्रिकालिक शुद्ध द्रव्य की प्रतीति एवं उपादान* की ओर दृष्टि जाती है, इसलिए निश्चय नय को समझना आवश्यक है।

मंजिल को पहचाने बिना राह पर चल पडना एव बीच की भूल–भुलैयों में भटकते रहना मूर्खता है। अतः सत्यान्वेषी साधक को मंजिल के यथार्थ स्वरूप एवं उसके भाग को पहले समझकर फिर अपने कदम मजिल की ओर ले जाने वाले रास्ते पर बढाना चाहिए। निश्चय नय ही हमे अपनी मजिल की पहचान एव उसकी आदर्श पूर्णावस्था स्थिति की ओर इगित करता है। *किसी कवि ने कहा है–*

चलता चल तू चलता चल
कहीं न रुकना चलता चलता
किन्तु ठहरना उस मंजिल पर
जिसके आगे राह न हो ।।

निश्चय नय मंजिल की चरम स्थिति, सुख का सम्पूर्ण खजाना एव आत्मा के मोह, क्षोभ–जनित राग–द्वेष आदि विकारी भावो से रहित शुद्ध यथार्थ दशा एव उसकी ओर ले जाने वाली राह का यथार्थ दिग्दर्शन कराता है इसलिए उसका समझना प्रत्येक कल्याणेच्छुक मानव के लिए अत्यन्त आवश्यक है। निश्चय नय आत्मा के यथार्थ स्वरूप के प्ररूपण द्वारा हमारे मन मे उस शुद्ध दशा को पाने की एक सोई हुई लालसा को उत्पन्न कर देता है जो सत्य–साधक मानव के ठहरे हुए कदमो को बरबस ही उस राह की ओर मोड देता है जो मोक्ष के भव्य–प्रासाद की ओर जाती है अर्थात् सम्यक् दर्शन, ज्ञानचारित्र की तन्मयता रूप आत्मा की सतत अनुभूति के द्वार पर जाती है।

प्रश्न 82 : व्यवहार नय को समझना क्यों आवश्यक है ?

उत्तर : व्यवहार नय हमे अपने वर्तमान अशुद्ध पर्याय के समझने के लिए बाधित करता है, क्योंकि उसके समझे बिना शुद्ध पर्याय का यथार्थ ज्ञान सम्भव नही होता। व्यवहार नय निश्चय नय द्वारा प्ररूपित आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करने के मार्ग पर पडने वाले क्रमिक मोडो की ओर इगित करता है, क्योकि यदि यहाँ भटक गये तो मजिल से चले जायेगे। एक सत्यखोजी मानव के लिए शुद्धोपयोग रूप आत्मधर्म की अपेक्षा शुभ एव अशुभ रूप दोनो प्रवृत्ति हेय है, किन्तु अशुभ की अपेक्षा शुभ प्रवृत्ति श्रेयरकर है। किन्तु यदि इसी मे अटक गये तो भटक जायेगे और यदि इसको छोडकर अशुभ प्रवृत्ति मे प्रवृत्त हुए तो उस सत्य रास्ते की दिशा से ही विमुख हो जायेगे, इसलिए भव्य–जीव के लिए आत्मा की यथार्थ अनुभूति रूप निश्चयचारित्र की पूर्णता प्राप्त करने के लिए साधक अवस्था की जिन–जिन परीक्षाओ मे पास होना पडता है, उनमे पास होने के लिए जो–जो कार्य करना अनिवार्य होता है, उनका ज्ञान व्यवहार नय से ही प्राप्त होता है। जैसे–आत्मा की शुद्ध दशा की प्राप्ति के लिए हमे अपने विषय कषायो

से मुक्त होकर श्रावक के अणुव्रत व श्रमणो के महाव्रतादि रूप चारित्र का पालन करना ही होगा जिसके द्वारा वर्तमान अशुद्ध पर्याय के कारणभूत राग–द्वेष आदि विकार व अष्ट द्रव्यकर्मो का समूल क्षय हो जाता है। आत्मा अपने शुद्ध ज्ञाता, द्रष्टा स्वभाव की प्राप्ति कर लेता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्येक नय एक–दूसरे के पूरक है। एक के अभाव से दूसरा नय नय न रहकर दुर्नय बन जाता है। एकान्त से यथार्थ वस्तु स्वरूप का लोप करने लगता है। अत सत्य साधक को निश्चय नय के साथ व्यवहार नय का ज्ञान होना अनिवार्य है।

प्रश्न 83 : द्रव्य किसे कहते हैं ?

उत्तर : द्रव्य वह है, जो गुण और पर्याय रूप हो। यद्यपि जब हम गुण की बात करते है तो अविरोध रूप से उसी मे पर्याय शब्द का भी समावेश हो जाता है, क्योकि द्रव्य का प्रत्येक गुण भी सदाकाल षड्गुणी हानि–वृद्धि से परिवर्तित होकर हमेशा किसी न किसी पर्याय मे ही रहता है, किन्तु यह पर्याय शब्द का जो विशेष प्रयोग किया गया है वह वैशेषिको की उस मान्यता के खण्डन करने के लिए है जिसमे गुण एव द्रव्य को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किया गया है। द्रव्य का दूसरा लक्षण है–उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य–पूर्व सत् जो उत्पाद व्यय एव ध्रौव्य रूप हो उसे द्रव्य कहते है।

उत्पाद–नवीन पर्याय के जन्म को 'उत्पाद' कहते है।

व्यय–पूर्व पर्याय के विनाश को 'व्यय' कहते है।

ध्रौव्य–पूर्व एव नवीन पर्याय दोनो रूप रहने मे जो हेतु या कारण है अथवा जिसके माध्यम से हम द्रव्य की एकता को स्वीकार करते है उसे 'ध्रौव्य' कहते है।

प्रत्येक द्रव्य मे उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य एक समय मे एक साथ ही होता है। जैसे–मिट्टी का घडा जैसे ही फूटा, बदल गया। यहाँ पर घडे रूप मिट्टी की पर्याय की उत्पत्ति एव उसी समय मिट्टी रूप ध्रौव्यता ये तीनो एक साथ ही एक ही समय मे हुए।

प्रत्येक द्रव्य सतत परिवर्तनशील है, चाहे वह सूक्ष्म परिवर्तन हो या स्थूल परिवर्तन । बिना परिवर्तन के द्रव्य का अस्तित्व ही सम्भव नही है।

द्रव्य छह हैं–जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

प्रश्न 84 : गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर : जो द्रव्य के साथ हमेशा उसकी समस्त स्थितियों मे रहते हों एव अपने अलावा अन्य गुणों से रहित हो, उन्हे गुण कहते है।

यथार्थ मे देखा जाये, तो प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुणो का पुज है एवं प्रत्येक गुण अपने आप में पूर्ण स्वतन्त्र एव अपने में अन्य गुणो की सत्ता से रहित है। जैसे–आत्मा में ज्ञान, दर्शन, सुख आदि अनन्त गुण एक साथ पाये जाते है एव प्रत्येक गुण अपने मे पूर्ण स्वतन्त्र स्वयं मे अन्य की सत्ता से रहित है अर्थात् ज्ञान दर्शन आदि प्रत्येक गुण पूर्ण स्वतन्त्र है। ज्ञान–गुण में दर्शन गुण का एक अंश भी नहीं पाया जायेगा। यह देखा भी जाता है कि किसी व्यक्ति को ज्ञान अधिक है किन्तु उसको सुख अधिक नही है। उसका कारण यही है, प्रत्येक गुण अपनी सत्ता मे स्वयं पूर्ण स्वतन्त्र है एवं उसमे अन्य गुणो का अश भी नही पाया जाता। यदि ऐसा होता है तो जिसके पास ज्ञान अधिक है, उसके पास सुख भी अधिक होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है।

यद्यपि प्रत्येक गुण रूप से स्वतन्त्र है, किन्तु ऐसा नही है कि द्रव्य के प्रदेशो मे भी इन गुणो के अनुसार बॅटवारा हो। जैसे–इतने या ये प्रदेश ज्ञान के, ये दर्शन गुण के, ऐसा नही है अपितु प्रत्येक प्रदेश पर अनन्त गुणो का समान अधिकार है, किसी का कम या ज्यादा नही। उदाहरण के लिए शक्कर को लिया जाये तो वह मीठी भी है, सफेद भी है, स्पष्ट रूप से उसमे दो गुण प्रकट है। अब क्या आप बता सकते है कि शक्कर के कितने भाग मे सफेदी है एव कितने भाग मे मीठापन ? इसका उत्तर यही होगा कि प्रत्येक दाने के कण मे शक्कर के श्वेतपन एव मीठेपन का पूर्ण अधिकार है। यही अवस्था गुणो के सम्बन्ध मे है।

प्रश्न 85 : पर्याय किसे कहते हैं एवं वे कितने प्रकार की होती हैं ?

उत्तर : जो प्रति समय जल की लहर के समान उत्पन्न होकर के नष्ट होती रहती है उसे पर्याय कहते है अथवा पदार्थ की वर्तमान स्थिति को पर्याय कहते है अथवा प्रत्येक समय मे परिणमन कर जिसमे पूर्व स्थिति का विनाश एव नवीन स्थिति का उत्पाद हो जाये उसे पर्याय कहते हैं।

चूँकि प्रत्येक द्रव्य शाश्वत रहता है किन्तु उसकी अवस्था प्रत्येक समय बदलती रहती है। जैसे–आज हम किशोर हैं, कल युवक होगे फिर वृद्ध आदि, तो ये परिवर्तित अवस्थाएँ जिनमे पूर्व की अवस्था का विनाश होकर नवीन अवस्था की उत्पत्ति होती है, पर्याय कहलाती है।

प्रत्येक पदार्थ मे यह परिणमन प्रति समय होता रहता है। यद्यपि यह इतना सूक्ष्म होता है कि वह हमारी दृष्टि मे नही आता है। प्रत्येक पदार्थ मे जब परिणमन होता है तो दो प्रकार से होता है। एक पदार्थ के आकार मे और दूसरे पदार्थ के गुणो मे। उसी के आधार पर पर्याय दो प्रकार की है–

(1) अर्थ पर्याय – अगुरुलघु गुण विकार अर्थ पर्याय अर्थात् अगुरुलघु गुण आदि के परिणमन को अर्थ पर्याय कहते है। यह परिवर्तन अत्यन्त सूक्ष्म होता है एव हमारी दृष्टि मे नही आता है।

(2) व्यंजन पर्याय – प्रदेशत्व गुण के परिणमन को व्यजन पर्याय कहते है। पदार्थ के आकार मे जो परिणमन होता है उसे व्यंजन पर्याय कहते हैं। चूँकि, किसी भी पदार्थ का आकार उसमे रहने वाले प्रदेशत्व गुण के कारण होता है क्योकि प्रदेशत्व गुण वह है जिसके कारण वस्तु किसी–किसी आकार मे ही रहे। अत. हम कह सकते हैं कि प्रदेशत्व गुण के कार्य (परिवर्तन) को व्यजन पर्याय कहते है।

प्रत्येक पर्याय पुन दो–दो प्रकार की होती है।

(1) अर्थ पर्याय :

(1) स्वभावअर्थ पर्याय – किसी बाहरी सहायक कारण या निमित्त के बिना जो अर्थ पर्याय होती है उसे स्वभावअर्थ पर्याय कहते

है। जैसे–जीव का केवलज्ञान। यह केवलज्ञान स्वभाव से ही होता है। चूँकि केवलज्ञान जीव का गुण है, अत: केवलज्ञान उसकी स्वभाव पर्याय है।

(2) विभावअर्थ पर्याय – किसी बाह्य निमित्त कारण की सहायता से जो अर्थ पर्याय होती है उसे विभाव अर्थ पर्याय कहते है। जैसे–जीव में मतिज्ञान आदि ज्ञान या राग–द्वेष आदि भाव जो कर्मो के निमित्त से होती है।

(2) व्यंजन पर्याय भी दो प्रकार की होती हैं।

(1) स्वभाव व्यंजन पर्याय – किसी बाहरी निमित्त के बिना जो पर्याय हो, उसे स्वभाव व्यजन पर्याय कहते है। जैसे–जीव की अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून पुरुषाकार सिद्ध पर्याय। यह स्वभाव से होती है क्योकि जब ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मो का क्षय (नाश) होकर निमित्त का अभाव हो जाता है तभी यह होती है।

(2) विभाव व्यंजन पर्याय – किसी बाहरी निमित्त की सहायता से जो पर्याय हो, उसे विभाव व्यंजन पर्याय कहते हैं। जैसे–जीव की ससारी आदि पर्याय, जो गति नामकर्म के उदय से होता है।

प्रश्न 86 : वस्तु का यथार्थ निर्णय किसके माध्यम से होता है ?

उत्तर : प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है। इस अनेक धर्मात्मक वस्तु का यथार्थ निर्णय स्याद्वाद शैली के माध्यम से होता है।

प्रश्न 87 : अनेकान्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : अनेकान्त शब्द की व्युत्पत्ति 'अनेक' एव 'अन्त' इन दोनो शब्दो के सयोग से हुई है। 'अन्त' का अर्थ है 'धर्म–सहित'। इस तरह से अनेकान्त शब्द का अर्थ होता है 'परस्पर विरोधी धर्म'। अनेकान्त का तात्पर्य है कि प्रत्येक वस्तु परस्पर विरोधी अनन्त धर्मो का पुज है। प्रत्येक धर्म अपने विरोधी धर्म के साथ एक ही समय मे वस्तु मे उपस्थित रहता है। अस्ति–नास्ति, नित्य–अनित्य आदि परस्पर विरोधी

धर्म अविरोध रूप से एक ही समय मे वस्तु में एक साथ रहते है। अतः इससे स्पष्ट है कि वस्तु के समग्र स्वरूप को केवल समझा जा सकता है। कारण स्पष्ट है क्योकि प्रत्येक शब्द एक ही समय मे एक ही धर्म–विशेष को व्यक्त कर सकता है। शब्द मे इतनी सामर्थ्य नही है कि वह वस्तु मे विद्यमान परस्पर विरोधी धर्मों को एक साथ, एक ही समय मे व्यक्त कर सके। अत किसी भी वस्तु का कथन करते समय उसके किसी एक धर्म को मुख्य एव उसके विरोधी धर्म को गौण कर दिया जाता है। उसका अभाव स्वीकार नही किया जाता।

इस तरह से कहा जा सकता है कि 'वस्तु मे उपस्थित परस्पर विरोधी धर्मों में से किसी एक को मुख्य और उसके विरोधी धर्म को गौण कर देना अनेकान्त है, विरोधी धर्म अभाव रूप न होकर गौण रूप मे होता है।'

हमारे व्यावहारिक जीवन मे भी अनेकान्त का नित्यप्रति उपयोग होता है। प्रत्येक व्यक्ति सतत परिवर्तित होता हुआ आज किशोर, कल युवक, परसो जवान, फिर वृद्ध हो जाता है, किन्तु इतना सब परिवर्तन होने के बाद भी वही रहता है जो पहले था और रहेगा। निरन्तर परिवर्तित होते हुए भी 'मै' नित्य हूँ, यही तो अनेकान्त है।

प्रश्न 88 : स्याद्वाद किसे कहते हैं ?

उत्तर : सापेक्ष कथन ही स्याद्वाद है। अनेकान्त धर्म का कथन करने वाली भाषा पद्धति को स्याद्वाद कहते है।

जब वस्तु के अनेकान्त धर्म को शब्दो मे प्रकट करने का प्रयत्न किया जाता है समस्या उत्पन्न हो जाती है, क्योकि वस्तु मे उपस्थित परस्पर विरोधी धर्मो को एक साथ शब्दो द्वारा कैसे कहें ? शब्द तो अनेक अर्थवाची होकर भी एक प्रसग मे एक धर्म का विवेचन करने मे समर्थ होता है। अत जैनाचार्यो ने इस अनेकान्त धर्म को व्यक्त करने के लिए स्याद्वाद शैली का प्रयोग किया है, क्योकि प्रत्येक शब्द एक समय मे एक ही धर्म को कह सकता है। अत उसी वस्तु मे विद्यमान शेष धर्मों की उपस्थिति को दर्शाने के लिए उन्होने 'स्यात्' शब्द का उपयोग किया। 'स्यात्' का अर्थ 'कथचित्' अर्थात् किसी समय–विशेष

मे अथवा 'शायद' आदि नही है क्योकि परस्पर विरोधी धर्म एक साथ एक ही समय मे वस्तु मे उपस्थित रहते है।

इससे स्पष्ट है कि 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक है। अत. स्याद्वाद अनेकान्त धर्म को प्रकट करने वाली भाषा है। स्याद्वाद प्रत्येक कोने से सत्य को देखने की दृष्टि प्रदान करता है।

प्रश्न 89 : स्याद्वाद के कितने भंग हैं ?

उत्तर : स्याद्वाद के सात भग हैं। वस्तु के किसी धर्म के सापेक्ष कथन को भंग कहते है। प्रत्येक वस्तु मे प्रत्येक धर्म को अधिक से अधिक सात प्रकार से ही कहा जा सकता है। इसका कारण है कि उस वस्तु मे उस धर्म सम्बन्धी केवल सात प्रकार की ही जिज्ञासाएँ मन में उत्पन्न हो सकती है, अर्थात् उस वस्तु के किसी भी धर्म का कथन अधिक से अधिक सात प्रकार से ही किया जा सकता है इसलिए स्याद्वाद के सात भग होते है। यथार्थ में देखा जाये तो प्रत्येक वस्तु के मूलत तीन धर्म ही होते है–

(1) स्वचतुष्टय की अपेक्षा अस्ति।

(2) परचतुष्टय की अपेक्षा नास्ति नही है।

(3) स्व एव परचतुष्टय की युगपत् विवक्षा की अपेक्षा अवक्तव्य अनिर्वचनीय।

किन्तु जब इन्ही तीन कथनों का विस्तार किया जाता है तो ये भग सात हो जाते है। वे निम्न प्रकार है–

1 स्याद् अस्ति एव,

2 स्याद् नास्ति एव,

3 स्याद् अस्ति–नास्ति एव,

4 स्याद् अवक्तव्य एव (अनिर्वचनीय),

5 स्याद् अस्ति अवक्तव्य एव,

6 स्याद् नास्ति अवक्तव्य एव,

7. स्याद् अस्ति–नास्ति अवक्तव्य एव।

प्रत्येक भग के साथ 'स्याद्' निपात लगाना अत्यन्त आवश्यक है क्योकि ये सभी सापेक्ष कथन है। साथ ही एव (ही का भी प्रयोग अनिवार्य है क्योकि उस अपेक्षा से वस्तु उस रूप ही है, न कि किसी अन्य रूप । स्वामी समन्तभद्राचार्य ने तो युक्त्यानुशासन मे स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि 'अनुक्ततुल्य यदनेवकार' अर्थात् जिस कथन के साथ एव अर्थात् ही नही है वह अनुक्त है अर्थात् न कहे हुए के समान है। सात भगो का सक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

1. स्याद् अस्ति एव – प्रत्येक वस्तु स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा अस्ति रूप ही है। जैसे–प्रत्येक जीव ज्ञानादि गुणो की अपेक्षा अस्ति रूप ही है या सीता जी रामचन्द्र जी की अपेक्षा धर्मपत्नी ही है।

2. स्याद् नास्ति एव – प्रत्येक वस्तु पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नास्ति रूप ही है। जैसे प्रत्येक जीव स्पर्शादि पुद्गल गुणो की अपेक्षा नास्ति रूप है। या सीताजी रामचन्द्रजी के अतिरिक्त अन्य पुरुषो की अपेक्षा धर्मपत्नी नही है।

3. स्याद् अस्ति–नास्ति एव – जब स्वचतुष्टय एव परचतुष्टय दोनो की अपेक्षा वस्तु का कथन किया जाता है तब है भी और नहीं भी है। जैसे–जीव ज्ञानादि गुणो की अपेक्षा अस्ति रूप है एव स्पर्शादि गुणो की अपेक्षा नास्ति रूप है। या सीता जी रामचन्द्र जी की अपेक्षा धर्मपत्नी है, अन्य पुरुषो की अपेक्षा धर्मपत्नी नही है।

4. स्याद् अवक्तव्य एव – जब स्वचतुष्टय एव परचतुष्टय दोनो की अपेक्षा एक साथ एक ही समय मे वस्तु का कथन किया जाता है तब वह अनिर्वचनीय हो जाती है अर्थात् वस्तु के होते हुए भी उसका कथन सम्भव नही होता है। जैसे–जीव ज्ञानादि गुणो की अपेक्षा है, स्पर्शादि गुणो की अपेक्षा नहीं है। इन दोनो अपेक्षाओ को एक साथ नही कहा जा सकता। या सीताजी रामचन्द्रजी की अपेक्षा धर्मपत्नी है अन्य पुरुषो की अपेक्षा नही, इन दोनों अपेक्षाओ को एक साथ नही

कहा जा सकता। अतः युगपत अपेक्षा अवक्तव्य है।

5. स्याद् अस्ति अवक्तव्य एव – प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा से है एवं उसी समय स्व एवं पर दोनों चतुष्टयों की अपेक्षा से एक साथ कथन न हो सकने के कारण अस्ति अवक्तव्य है। जैसे–जीव ज्ञानादि गुणो की अपेक्षा अस्ति रूप है परन्तु उसी समय ज्ञानादि गुणो की अपेक्षा एव स्पर्शादि गुणो की अपेक्षा एक साथ कथन नही किया जा सकता। अत अस्ति अवक्तव्य है। या सीता जी रामचन्द्र जी की अपेक्षा धर्मपत्नी है उसी समय रामचन्द्र जी एव अन्य पुरुष दोनो की अपेक्षा से एक साथ कथन नही किया जा सकता।

6. स्याद् नास्ति अवक्तव्य एव – प्रत्येक वस्तु पर चतुष्टय की अपेक्षा से नही है परन्तु उसी समय स्व एवं दोनो चतुष्टय की अपेक्षा से एक साथ कथन नही किया जा सकता तब वह नास्ति अवक्तव्य है।

जैसे–जीव स्पर्शादि गुणों की अपेक्षा नास्ति रूप है किन्तु उसी समय ज्ञानादि गुणो एव स्पर्शादि गुणो दोनो अपेक्षा से एक साथ कथन नही किया जा सकता। या सीताजी अन्य पुरुषो की अपेक्षा धर्मपत्नी नही है एव उसी समय रामचन्द्रजी एव अन्य पुरुष इन दोनो अवस्थाओ का कथन युगपत सम्भव नही है, अत नास्ति अवक्तव्य है।

7. स्याद् अस्ति–नास्ति अवक्तव्य एव – प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा है एव परचतुष्टय की अपेक्षा से नही है तथा उसी समय स्व एव पर दोनो चतुष्टय की अपेक्षा युगपत कथन सम्भव नही है अत अस्ति–नास्ति अवक्तव्य है।

जैसे–जीव ज्ञानादि गुणो की अपेक्षा है, स्पर्शादि गुणो की अपेक्षा नही है परन्तु उसी समय दोनो अपेक्षाओं का युगपत कथन न हो सकने के कारण अस्ति–नास्ति अवक्तव्य है। या सीताजी रामचन्द्र जी की अपेक्षा धर्मपत्नी हैं, अन्य पुरुष की अपेक्षा धर्मपत्नी नही हैं एव उसी समय दोनो अवस्थाओ का कथन युगपत सम्भव नही है। अत अस्ति–नास्ति अवक्तव्य है।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि स्याद्वाद के सप्त भग किसी कपोल–कल्पना पर आधारित नही है अपितु मानव मन की तर्क मूलक

प्रवृत्ति को सम्पूर्ण रूप से समाधान करने के लिए जैन–दर्शन की सुपरीक्षित वैज्ञानिक देन है, जिसमें मानव की तर्क–मूलक प्रवृत्ति को सम्पूर्ण रूप से प्रस्तुत किया गया है।

सप्त भगो के समझे बिना किसी भी वस्तु के किसी भी धर्म का पूर्ण रूप से कथन नही किया जा सकता। अत वस्तु के किसी धर्म के यथार्थ पूर्ण कथन के लिए सातों ही भगो का समझना अत्यन्त आवश्यक है।

प्रश्न 90 : एकान्त किसे कहते हैं ?

उत्तर : वस्तु में रहने वाले परस्पर विरोधी धर्मो में से किसी एक धर्म रूप ही समग्र वस्तु को मान लेना, उसके विरोधी धर्म की उपेक्षा कर उसे अभाव रूप बतलाना एकान्त कहलाता है। जैसे–आत्मा को सदाकाल ज्ञाता द्रष्टा पूर्ण शुद्ध ही मानना अथवा आत्मा को पूर्णतः संसारी ही मानना। केवल उपादान से ही कार्य होता है, निमित्त कुछ नही करता, वह अकिंचित्कर है। ज्ञान ही मोक्ष का कारण है, चारित्र पालन से कुछ नही होता, इन सभी एव ऐसे ही दुराग्रहो को एकान्त कहते है। इन एकान्तो को मानने वालो को आचार्यों ने वस्तु–स्वरूप से अनभिज्ञ एव अनन्त संसारी कहा है।

प्रश्न 91 : अपने आपको सिद्धों के समान भगवान् ही मानने वाले कौन हैं ?

उत्तर : अपने आपको सिद्धो के समान भगवान् मानने वाले अज्ञानी हैं क्योकि वे अभी प्रत्यक्ष ससारी है किन्तु भ्रम से अपने को सिद्ध मानते हैं।

यद्यपि आगम मे आत्मा को शक्ति की अपेक्षा शाश्वत सिद्ध समान कहा गया है, किन्तु अशुद्ध द्रव्य से वर्तमान मे तो यह जीव कर्म–रज से मलिन होकर अपने शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव को भूलकर चतुर्गति रूप ससार मे भ्रमण कर रहा है।

अत जो पर्याय–दृष्टि से भी स्वय को सिद्धो के समान ही मानता है, तो वह नियम से मिथ्या दृष्टि ही है। जैसे–राजा एव रक मनुष्यपने की दृष्टि से एक समान है, किन्तु यदि इस दृष्टि से रक अपने को

प्रत्यक्ष रूप से राजा के समान ही मानने लगे तो इससे ज्यादा महामूर्खता क्या होगी ? पण्डित टोडरमल जी ने 'मोक्षमार्ग–प्रकाशक' मे स्पष्ट शब्दो मे लिखा है कि "जो रागादिक होते हुए आत्मा को उनसे रहित मानते है उन्हे मिथ्या दृष्टि जानना।"

प्रश्न 92 : कर्मो का आत्मा के ऊपर कुछ भी असर नहीं होता ? ऐसा कहने वाले कौन हैं ?

उत्तर : 'आत्मा पर कर्मो का कुछ भी प्रभाव नहीं पडता।' ऐसा मानने वाले भी एकान्तवादी है, अज्ञानी हैं।

इसका कारण स्पष्ट है, क्योकि यदि ऐसा होता तो फिर राग–द्वेषादि भाव क्यो उत्पन्न हो रहे है ? अपने आप उत्पन्न हो रहे है या कर्म के उदय का निमित्त पाकर उत्पन्न हो रहे हैं, यदि आप कहते है कि आत्मा मे विद्यमान वैभाविक शक्ति के कारण उत्पन्न हो रहे है, तो सिद्ध भगवान् के भी वह शक्ति विद्यमान है, फिर उनके राग–द्वेषादि भाव क्यो नही उत्पन्न होते और आत्मा तो स्वभाव–शक्ति से केवलज्ञान युक्त है, फिर क्या कारण है कि आप में तो जरा सा ही ज्ञान दिखाई देता है, यदि कर्मो का आत्मा के ऊपर कुछ भी असर नही होता है तो क्यो नही आप मे भी केवलज्ञान हो जाता ? एव फिर सम्यग्दर्शन ज्ञान तथा चारित्र के प्राप्त करने का जो उपदेश दिया जाता है वह किसलिए ? यह सब तो स्पष्ट रूप से सिद्ध करते है कि कर्म का आत्मा के ऊपर प्रभाव पडता है, इसलिए उन कर्मो को समाप्त करने के लिए ही यह पुरुषार्थ किया जा रहा है। हा, यह अवश्य है कि शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा कर्मो का आत्मा के ऊपर कुछ भी असर नही पडता, क्योकि कर्म जड पुद्गल की पर्याय है एव आत्मा चेतन।

प्रश्न 93 : 'मात्र उपादान से हीं कार्य होता है, निमित्त तो अकिंचित्कर है' ऐसी मान्यता वालों को आचार्यों ने क्या कहा है ?

उत्तर : 'मात्र उपादान से ही कार्य होता है, निमित्त तो अकिंचित्कर है' ऐसा मानने वाले एकान्तभाषी है। यह प्रत्यक्ष देखने मे आता है कि

बिना निमित्त के किसी कार्य की सिद्धि नहीं होती। *यद्यपि निमित्त स्वयं* कार्यरूप नहीं बदलता, परिणमन उपादान में ही होता है किन्तु कार्य की उत्पत्ति में सहायक अवश्य होता है। जैसे जल बादल से ही बरसता है किन्तु उन बादलो की उत्पत्ति मे अर्थात् जमीन के पानी के भाप के रूप मे बदलकर, बादल रूप बनने मे सूर्य की किरणे (किसी–किसी प्रकार का ताप) नियम रूप से सहायक हैं।

निमित्त अकिंचित्कर नही है। कार्य उत्पन्न होने, रूप उपादान की योग्यता होने पर निमित्त होगा ही होगा, ऐसा भी एकान्त नही है, क्योंकि पुरुष मे पुत्रोत्पत्ति की सामर्थ्य होने पर भी बिना पत्नी के यह सम्भव नही है और इसके लिए प्रयत्नपूर्वक पाणिग्रहण सस्कार आदि आवश्यक हैं। आगम की अपेक्षा निमित्त और उपादान दोनो से कार्य होता है, किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र मे उपादान की प्रधानता है।

प्रश्न 94 : क्रिया रहित ज्ञान–मात्र से मोक्ष मानने वालों को आचार्यों ने क्या कहा है?

उत्तर : क्रिया रहित ज्ञान–मात्र से मोक्ष मानने वालो को आचार्यों ने एकान्तवादी, अज्ञानी, प्रमादी कहा है।

आचार्यों ने मोक्षमार्ग की व्यवस्था करते हुए स्पष्ट शब्दों मे लिखा है कि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.'। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की एकरूपता ही मोक्ष का मार्ग है। इसमे स्पष्ट शब्दो मे सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन एव सम्यक्चारित्र का उल्लेख किया है और वह सम्यक्चारित्र बिना क्रिया के, साधन के होता ही नही है। इसकी उत्पत्ति के लिए दिगम्बर मुनि मुद्रा रूप महाव्रत धारण एव उनके पद के अनुरूप समस्त आचरणो अर्थात् क्रियाओ का सम्यक् परिपालन अनिवार्य है। इसलिए क्रिया रहित ज्ञान से ही मोक्ष मानने वाले त्रिकाल मे भी मोक्ष नही पा सकते । केवल मजिल के देखने या जानने से मजिल पर नही पहुँच सकते और न बिना जाने किसी भी राह पर चलने से मजिल पर पहुँच सकते हैं, बल्कि मंजिल के सही ज्ञान होने, उस पर जाने वाले मार्ग पर चलने से ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। अत किसी भी प्रकार के एकान्त को मानना श्रेयस्कर नहीं है, यह तो अज्ञान तथा ससार–भ्रमण की पुष्टि का कारण ही है।

प्रश्न 95 : सम्यग्दृष्टि के शुभ भाव अर्थात् दान, पूजा, दया, शील, अणुव्रत, महाव्रत आदि परम्परा से मोक्ष का कारण न मानकर संसार के ही कारण मानने वालों को आचार्यों ने क्या कहा है?

उत्तर : परम्परा से भी सम्यग्दृष्टि के शुभ–भावो को मोक्ष का कारण न मानकर ससार का कारण ही मानने वालो को आचार्यों ने एकान्तवादी, हठग्राही, अज्ञानी, प्रमादी एव अनन्त ससारी कहा है।

इसकी व्याख्या करने के पहले शुभ–भाव के कुछ पर्यायवाची नाम दिये है जो इस प्रकार हैं–

'अपहृतसंयमः सरागचारित्रं शुभोपयोग इति यावदेकार्थः।'

अर्थात् अपहृत संयम, सरागचारित्र और शुभोपयोग ये एकार्थवाची शब्द है। इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि शुभ उपयोग सम्यग्दृष्टि के ही सम्भव है, क्योंकि सरागचारित्र उसी के होता है मिथ्या दृष्टि के नही तथा उस शुभोपयोग से जहॉ पुण्य–कर्म का बन्ध होता है वही सवर और निर्जरा भी होती है जो साक्षात् मोक्ष का कारण है। श्री वीरसेनाचार्य ने स्पष्ट शब्दो में शुभभाव के संवर और निर्जरा होने का उल्लेख किया है–

'सुह सुद्धपरिणामेहि भावे तक्खयाणुसतीवो।'

(जयधवल, पु–1 पृ0–6)

अर्थात् शुभ व शुद्ध परिणामों से कर्मो का क्षय न माना जाये तो फिर कर्मो का क्षय हो ही नही सकता। कुन्दकुन्दाचार्य ने भी रयणसार मे कहा है–

पूयफलेण तिलोए सुरपुज्जो हवदि सुद्धमणो।
दाण फलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं।।14।।

अर्थात् यदि कोई शुद्ध मन से अर्थात् इन्द्रिय–सुख की अभिलाषा से रहित होकर जिन पूजा करता है तो उस पूजा–रूप का फल तीन लोक से पूजित अरहत पद है और दान–रूप शुभ भाव का फल तीन लोकसार अर्थात् मोक्ष का सुख मिलता है। दूसरे, उत्कृष्ट पुण्य–बन्ध

के बिना मोक्षमार्ग के योग्य उत्तम सहनन उच्च–गोत्र आदि सामग्री नही मिल सकती। प्रवचनसार की 45वी गाथा मे कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है–

'पुण्य फला अरहंता।'

अत जो सम्यग्दृष्टि के शुभभावों को भी ससार का ही कारण स्वीकार करते है, परम्परा से भी मोक्ष का कारण नही मानते वे आगम से अनभिज्ञ, हठग्राही, एकान्तवादी हैं, अज्ञानी हैं।

प्रश्न 96 : 'आजकल सच्चे मुनिराज व त्यागी–व्रती नहीं हैं' ऐसा कहने वाले कौन हैं?

उत्तर : 'वर्तमान में सच्चे मुनिराज व त्यागी–व्रती नही है' ऐसा कहने वाले जैनाभाषी अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा को न मानने वाले असत्यग्राही, धर्म का अपलाप करने वाले आगम विरोधी हठी पुरुष है।

इसका कारण स्पष्ट है कि आजकल भी मुनिराज एव त्यागी–व्रती है उनमे से भी आगमानुसार अपने चारित्र–रूप धर्म का सम्यक् परिपालन करने वाले है। अभी आचार्य विद्यासागर जैसे–महान् निस्पृह, स्वसमय एव परसमय विज्ञ आचार्य विद्यमान है, जिनकी शान्तिस्वरूप की स्मृति एव दर्शन मात्र से ही चंचल मन में वैराग्य की सरिता प्रवाहित होने लगती है। उनका निर्दोष चारित्र–पालन आज भी हमे उस चतुर्थकालवर्ती उत्तम सहनन के धारी मुनियो के चारित्र का स्मरण कराता है। आगम मे उल्लेख है कि पचमकाल के अन्त समय तक दिगम्बर मुनिराज रहेगे।

अत वर्तमान मे सच्चे मुनिराज एव त्यागी व्रतियो के अस्तित्व को पूर्णत अस्वीकार करने वाले अवश्य ही दीर्घ ससारी है, स्वरूप–विमुख एव सम्यक्चारित्रधारी मुनिगण है।

इसका अभिप्राय यह भी नही है कि आगम विरुद्ध चलने, मनमानी करने वालो, त्यागी व्रती मुनि कहलाने वालो को भी सत्य मानो, आगम विरुद्ध चलने वाले को पहले समझाना चाहिए और न माने तो मिथ्या भेषी मानकर छोड देना चाहिए।

प्रश्न 97 : जैन धर्म किसे कहते हैं? हम सच्चे जैन कब कहलायेंगे?

उत्तर : जिन–जितेन्द्रिय–वीतराग सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रतिपादित धर्म को जैनधर्म कहते है।

'जैन' शब्द 'जिन' शब्द से उत्पन्न हुआ है। 'जिन' शब्द का अर्थ होता है जीतने वाला। चूँकि 'जिन' शब्द रूढ अर्थ मे ही प्रचलित है और इस रूढ अर्थ मे उसका अर्थ होता है इन्द्रियो एव मन को जीतने वाला। इन्द्रिय का अर्थ होता है पॉच इन्द्रिय, मन। अत जिन्होने पूर्ण रूप से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली अर्थात् मन, वचन एवं काय के योग (प्रवृत्ति) का सम्पूर्ण रूप से निरोध कर लिया है उन्हे 'जिन' कहते है। जो 'जिन' के मार्ग का अनुगमन करे, वे जैन कहलाते है एव जिस मार्ग का अनुगमन करने से हम भी 'जिन' बन सकें, वह है जैन धर्म।

प्रत्येक मानव जो सत्य की ओर उसके अन्वेषण की जिज्ञासा से अपने कदम बढा रहा है, उसे सबसे पहले अपनी इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करना अनिवार्य है। पॉच इन्द्रियॉ एव उनका राजा (Controlling Chamber) मन जब तक वे लगाम है, तब तक सत्य की राह पर चला नही जा सकता। अत· जैन शब्द विकार–विजयी द्योतक है और जैसे–ही मानव–विकार विजयी बनता है उसी समय वह आत्मजयी भी बन जाता है।

अत आत्मजयी आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति कराने वाला धर्म जैन धर्म कहलाता है।

हम सच्चे जैन कब कहलायेंगे :

हम सच्चे जैन कहलाने के पात्र तब बनेगे, जब हम जिनेन्द्र भगवान् की आज्ञा के अनुसार अपना आचरण करेगें और उनकी वाणी पर दृढ श्रद्धा करते हुए अहिसा– धर्म को जीवन मे उतारते हुए मानव मात्र तक पहुँचने का दृढ प्रयत्न करेंगे। सप्त व्यसन का सेवन करने वाला, अन्याय, अभक्ष्य का सेवी जैन नही है, इनसे रहित वीतरागता का श्रद्धालु ही जैन है।

प्रश्न 98– हमारे वास्तविक शत्रु कितने हैं ?

उत्तर : हमारे वास्तविक शत्रु ग्यारह हैं –हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह। यह पॉच पाप, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार कषाय और इन सबका कारण राग–द्वेष। इन सबसे अगर बचने का उपाय किया जाये तो सम्भव है जीवन मे सुख–शान्ति की लहर आ जाये। इन ग्यारह शत्रुओ को अभी तक अपना मित्र मानते आये है यही कारण है इनसे मुक्ति न मिलने का। अपने स्वभाव की ओर दृष्टिपात करने से सहज मे इनसे मुक्त हो सुख की प्राप्ति की जा सकती है।

प्रश्न 99 : संसार में प्रेम किससे करना चाहिए ?

उत्तर : ससार मे रहते हुए यदि प्रेम करना ही है तो धर्म और धर्मात्माओं अर्थात् सम्यग्ज्ञान–प्रदाता गुरु, वीतरागता की ओर इगित करने वाले धर्म और भवनाशक भगवान् से प्रेम करके अपने त्रिकालिक स्वभाव से प्रेम करना चाहिए, ताकि अपने अन्दर विराजमान अनन्त गुणो से मण्डित भगवान् के दर्शन हो सके।

प्रश्न 100 : हम में और भगवान् में क्या अन्तर है ?

उत्तर : हम मे और भगवान् मे केवल–शक्ति की प्रकटता एव शक्ति की अप्रकटता का ही अन्तर है। भगवान् ने पुरुषार्थ से स्वय मे से कर्म–रज को अलग कर दिया है किन्तु हम अभी ऐसा नही कर पाये है, जिसके कारण ही चतुर्गति रूप ससार मे परिभ्रमण कर रहे है। जिस दिन हम भी कर्मरज को पूर्ण रूप पृथक् कर देगे उसी समय हम भी भगवान् बन जायेगे। तब हम मे और भगवान मे कोई अन्तर नही रहेगा।

अत हमारा कर्तव्य है कि भगवान् बनने के मार्ग पर चलें, जिससे हम भगवान् बन सके और अपनी आत्मा को पूर्णता की ओर ले जाकर परमात्मा बना सके।

प्रश्न 101 : संसार और मोक्ष सुख में क्या अन्तर है?

उत्तर : रागी पुरुष को ससार मे जो सुख होता है वह क्षणिक है। इस सुख के पीछे दु:ख छिपा हुआ है और मोक्ष सुख में प्रकाश और अन्धकार के समान अन्तर है। अगर हम यहॉ उस सुख को समझाना चाहते है तो विषय कषाय से मुक्त होकर वीतराग भावों के साथ एकान्त स्थान मे आसन लगा कर ध्यान करे और निर्विकल्प बनकर आत्म–चिन्तन करे, तब आंशिक सुख की एक झलक सहसा ही उद्‌बोधित हो उठेगी। अन्तर आत्मा मे, जिससे अनन्त, अखण्ड अलौकिक सुख का मार्ग स्वयं ही सामने खुल जायेगा जो हमें मोक्ष मे अनन्तकाल तक के लिए विराजमान कराने मे समर्थ होगा।

❒❒❒

जयवन्त–जिनालय

जय–जय–जय, जयवन्त जिनालय, नाश रहित है शाश्वत है।
जिनमें जिन महिमा से मण्डित, जैन बिम्ब है भास्वत है।।
सुरपति के मुकुटों की मणियॉं, झिलमिल–झिलमिल करती हैं।
जिन बिम्बों के चरण कमल को धोती है मन हरती है।।1।।

सदा सदा से सहज रूप से, शुचितम प्राकृत छवि वाले।
रहे जिनालय धरती पर ये, श्रमणो की सस्कृति धारे।।
तीनो संध्याओ में इनको, तन से, मन से वचनो से।
नमन करूँ, धोऊँ अघ रज को, छूटूँ भव वन भ्रमणो से।।2।।

जयवन्त–जिनवाणी

जय–जय देव तुम्हारे मुख से, निसृत शीतल जो वाणी।
जग जन मन के मल को धोती, अत कहाती जिनवाणी।।
जयवन्ती मॉ ! जग में तब तक जब तक सूरज–चॉद रहें।
शीश नवाते कर्म हरो मॉ ! अब तक हम विषयान्ध रहे।।3।।

जयवन्त–गुरुवर

जय–जय–जय जयवन्त गुरुवर, दृढव्रत के जो आगर है।
मृदुभाषी ऋजु–विशाल हृदयी, प्रशान्त रस के सागर है।।
उज्ज्वलतम आदर्श है जिनका, निर्णय जिनके अटल रहें।
नमन नमन है पूर्ण लक्ष्य को, पाने हेतु अचल रहे।।4।।

दोहा –

सारे सागर क्षर है, मम गुरु मधुर अपार।
नमूँ ज्ञानसागर गहूँ, भव सागर कर पार।।
तरणि विद्यासागर गुरो ! तारो मुझे ऋशीष।
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष।।

दोहा स्तुति शतक

मंगलाचरण

शुद्ध भाव से नमन हो शुद्ध भाव के काज।
स्मरो, स्मरूँ नित थुति करूँ उर में करूँ विराज।।1।।
अपार गुण के गुरु रहे, अगुरु गन्ध अनगार।
पार पहुँचने नित नमूँ, प्रणाम बारम्बार।।2।।
नमूँ भारती भ्रम मिटे, ब्रह्म बनूँ मैं बाल।
भार रहित भारत बने, भास्वत भारत भाल।।3।।

श्री आदिनाथ भगवान्

आदिम तीर्थकर प्रभु, आदिनाथ मुनिनाथ।
आधि–व्याधि अघ मद मिटे, तुम पद मे मम माथ।।4।।
वृष का होता अर्थ है, दयामयी शुभ धर्म।
वृष से तुम भरपूर हो, वृष से मिटते कर्म।।5।।
दीनो के दुर्दिन मिटे तुम दिनकर को देख।
सोया जीवन जागता, मिटता अघ अविवेक।।6।।
शरण चरण है आपके, तारण तरण जहाज।
भव–दधि तट तक ले चलो करुणाकर जिनराज।।7।।

श्री अजितनाथ भगवान्

हार–जीत के हो परे, हो अपने मे आप।
विहार करते अजित हो, यथा नाम गुण छाप।।8।।
पुण्य पुज हो पर नही, पुण्य फलो मे लीन।
पर पर पामर भ्रमित हो, पल–पल पर आधीन।।9।।
जित इन्द्रिय जित मद बने, जितभव विजित कषाय।
अजितनाथ को नित नमूँ, अर्जित दुरित पलाय।।10।।
कोपल पल–पल को पले, वन मे ऋतु पति आय।
पुलकित मम जीवन लता, मन मे जिनपद पाय।।11।।

श्री संभवनाथ भगवान्

भव–भव भव वन भ्रमित हो, भ्रमता भ्रमता आज।
सभव जिनभव शिव मिले, पूर्ण हुआ मम काज।।12।।
क्षण–क्षण मिटते द्रव्य हैं, पर्ययवश अविराम।
चिर से है चिर ये रहे, स्वभाववश अभिराम।।13।।
परमार्थ का कथन यूँ, मथन किया स्वयमेव।
यतिपन पाले यतन से, नियमित यदि हो देव।।14।।
तुम पद पकज से प्रभु, झर–झर झरी पराग।
जब तक शिव सुख ना मिले, पीऊँ षट्पद जाग।।15।।

श्री अभिनन्दननाथ भगवान्

गुण का अभिनन्दन करो, करो कर्म की हानि।
गुरु कहते गुण गौण हो, किस विध सुख हो प्राणि।।16।।
चेतन वश तन शिव बने, शिव बिन तन शव होय।
शिव की पूजा बुध करे, जड जन शव पर रोय।।17।।
विषयो को विष लख तजूँ, बनकर विषयातीत।
विषय बना ऋषि ईश को, गाऊँ उनका गीत।।18।।
गुण धारे पर मद नही, मृदुतम हो नवनीत।
अभिनन्दन जिन ! नित नमूँ, मुनि बन मै भवभीत।।19।।

श्री सुमतिनाथ भगवान्

बचूँ अहित से हित करूँ, पर न लगा हित हाथ।
अहित साथ ना छोडता, कष्ट सहूँ दिन–रात।।20।।
बिगडी धरती सुधरती, मति से मिलता स्वर्ग।
चारो गतियॉं बिगडती, पा अघ मति ससर्ग।।21।।
सुमतिनाथ प्रभु सुमति हो, मम मति है अतिमंद।
बोध कली खुल–खिल उठे, महक उठे मकरद।।22।।
तुम जिन मेघ मयूर मै, गरजो–बरसो नाथ।
चिर प्रतीक्षित हूँ खडा, ऊपर करके माथ।।23।।

श्री पद्मप्रभ भगवान्

निरीछटा ले तुम छटे, तीर्थकरो मे आप।
निवास लक्ष्मी के बने, रहित पाप संताप।।24।।
हीरा–मोती पद्म ना, चाहूँ तुमसे नाथ।
तुम सा तम–तामस मिटा, सुखमय बनूँ प्रभात।।25।।
शुभ्र सरल तुम बाल तव, कुटिल कृष्ण तम नाग।
तव चिति चित्रित ज्ञेय से, किन्तु न उसमे दाग।।26।।
विराग पद्मप्रभु आपके, दोनो पाद सराग।
रागी मम मन जा वही, पीता तभी पराग।।27।।

श्री सुपार्श्वनाथ भगवान्

यथा सुधा कर खुद सुधा, बरसाता बिन स्वार्थ।
धर्मामृत बरसा दिया, मिटा जगत का आर्त।।28।।
दाता देते दान है, बदले की ना चाह।
चाह दाह से दूर हो, बडे–बडो की राह।।29।।
अबध भाते काटके, वसु विध विधि का बंध।
सुपार्श्व प्रभु निज प्रभुपना, पा पाये आनन्द।।30।।
बाँध–बॉध विधि बन्ध मैं, अन्ध बना मतिमन्द।
ऐसा बल दो अध को, बन्धन तोडूँ द्वन्द्व।।31।।

श्री चन्द्रप्रभ भगवान्

सहन कहॉ तक अब करूँ, मोह मारता डक।
दे दो इसको शरण ज्यो, माता सुत को अक।।32।।
कौन पूजता मूल्य क्या, शून्य रहा बिन अक।
आप अक है शून्य मै, प्राण फूँक दो शख।।33।।
चन्द्र कलकित किंतु हो, चन्द्रप्रभु अकलक।
वह तो शकित केतु से, शकर तुम निशक।।34।।
रक बना हूँ मम अत, मेटो मन का पक।
जाप जपूँ जिन नाम का, बैठ सदा पर्यक।।35।।

श्री पुष्पदन्त भगवान्

सुविध सुविधि के पूर हो, विधि से हो अति दूर।
मम मन से मत दूर हो, विनती हो मजूर।।36।।
किस वन की मूली रहा, मै तुम गगन विशाल।
दरिया में खसखस रहा, दरिया मौन निहार।।37।।
फिर किस विध निरखूँ तुम्हे, नयन करूँ विस्फार।
नाचूँ गाऊँ ताल दूँ, किस भाषा मे ढाल।।38।।
बाल मात्र भी ज्ञान ना, मुझमे मैं मुनि बाल।
बवाल भव का मम मिटे, तुम पद मे मम भाल।।39।।

श्री शीतलनाथ भगवान्

चिन्ता छूती कब तुम्हे, चिंतन से भी दूर।
अधिगम मे गहरे गये, अव्यय सुख के पूर।।40।।
युगो–युगो से युग बना, विघन अघो का गेह।
युग द्रष्टा युग में रहे, पर ना अघ से नेह।।41।।
शीतल चदन है नही, शीतल हिम ना नीर।
शीतल जिन तब मत रहा, शीतल हरता पीर।।42।।
सुचिरकाल मे मैं रहा, मोह नीद से सुप्त।
मुझे जगाकर कर कृपा, प्रभो करो परितृप्त।।43।।

श्री श्रेयांसनाथ भगवान्

राग–द्वेष औ मोह ये, होते कारण तीन।
तीन लोक में भ्रमित यह, दीन हीन अघ–लीन।।44।।
निज क्या, पर क्या, स्व–पर, क्या भला–बुरा बिन बोध।
जिजीविषा ले खोजता, सुख ढोता तन बोझ।।45।।
अनेकान्त की कान्ति से, हटा तिमिर एकान्त।
नितान्त हर्षित कर दिया, क्लान्त विश्व को शान्त।।46।।
नि श्रेयस सुखधाम हो, हे जिनवर! श्रेयास।
तव थुति अविरल मै करूँ, जब लौ घट मे श्वास।।47।।

श्री वासुपूज्य भगवान्

औ न दया विन धर्म ना, कर्म कटे बिन धर्म।
धर्म मर्म तुम समझकर, कर लो अपना कर्म।।48।।
वासुपूज्य जिनदेव ने, देकर यूँ उपदेश।
सबको उपकृत कर दिया, शिव मे किया प्रवेश।।49।।
वसुविध मगल द्रव्य ले, जिन पूजो सागार।
पाप घटे फलत फले, पावन पुण्य अपार।।50।।
बिना द्रव्य शुचि भाव से, जिन पूजो मुनि लोग।
बिन निज शुभ उपयोग के, शुद्ध न हो उपयोग।।51।।

श्री विमलनाथ भगवान्

काया कारा मे पला, प्रभु तो कारातीत।
चिर से धारा मे पडा, जिनवर धारातीत।।52।।
कराल काला व्याल सम, कुटिल चाल का काल।
मार[1] दिया तुमने उसे, फाडा उसका गाल।।53।।
मोह अमल बस समल बन, निर्बल मै भयवान।
विमलनाथ तुम अमल हो, सम्बल दो भगवान।।54।।
ज्ञान छोर तुम मै रहा, ना समझ की छोर।
छोर पकडकर झट इसे, खीचो अपनी ओर।।55।।

श्री अनन्तनाथ भगवान्

आदि रहित सब द्रव्य है, ना हो इनका अन्त।
गिनती इनकी अन्त से, रहित अनन्त अनन्त।।56।।
कर्ता इनका पर नही, ये न किसी के कर्म।
सन्त बने अरिहन्त हो, जाना पदार्थ धर्म।।57।।
अनन्त गुण पा कर दिया, अनन्तभव का अन्त।
अनन्त सार्थक नाम तव, अनन्त जिन जयवन्त।।58।।
अनन्त सुख पाने सदा, भव से हो भयवन्त।
अन्तिम क्षण तक मै तुम्हे, स्मरूँ स्मरे सब सत।।59।।

1 "विष विरहित उसको किया किया स्वप्न साकार।"

श्री धर्मनाथ भगवान्

जिससे बिछुडे जुड सके, रुदन रुके मुस्कान।
तन गत चेतन दिख सके, वही धर्म सुखखान।।60।।
विरागता मे राग हो, राग नाग विष त्याग।
अमृत पान चिर कर सके, धर्म यही झट जाग।।61।।
दया–धर्म वर धर्म है, अदया भाव अधर्म।
अधर्म तज प्रभु धर्म ने, समझाया पुनि धर्म।।62।।
धर्मनाथ को नित नमूँ, सधे शीघ्र शिव शर्म।
धर्म–मर्म को लख सकूँ, मिटे मलिन मम कर्म।।63।।

श्री शान्तिनाथ भगवान्

सकलज्ञान से सकल को, जान रहे जगदीश।
विकल रहे जड देह से, विमल नमूँ नत शीश।।64।।
कामदेव हो काम से, रखते कुछ ना काम।
काम रहे ना कामना, तभी बने सब काम।।65।।
बिना कहे कुछ आपने, प्रथम किया कर्तव्य।
त्रिभुवन पूजित आप्त हो, प्राप्त किया प्राप्तव्य।।66।।
शान्ति नाथ हो शान्त कर, सातासाता सान्त।
केवल–केवल ज्योतिमय, क्लान्ति मिटी सब ध्वान्त।।67।।

श्री कुंथुनाथ भगवान्

ध्यान अग्नि से नष्ट कर, प्रथम पाप परिताप।
कुथुनाथ पुरुषार्थ से, बने न अपने आप।।68।।
उपादान की योग्यता, घट मे ढलती सार।
कुम्भकार का हाथ हो, निमित्त का उपकार।।69।।
दीन दयाल प्रभु रहे, करुणा के अवतार।
नाथ अनाथो के रहे, तार सको तो तार।।70।।
ऐसी मुझपे करो कृपा, मम मन मुझ मे आय।
जिस विध पल मे लवण है, जल मे घुल–मिल जाय।।71।।

श्री अरनाथ भगवान्

चक्री हो पर चक्र के, चक्कर मे ना आय।
मुमुक्षुपन जब जागता, बुभुक्षुपन भग जाय।।72।।
भोगो का कब अन्त है, रोग भोग से होय।
शोक रोग मे हो अत. काल योग का रोय।।73।।
नाम मात्र भी नहिं रखो, नाम–काम से काम।
ललाम आतम मे करो, विराम आठो याम।।74।।
नाम धरो 'अर' नाम तव, अत स्मरूँ अविराम।
अनाम बन शिवधाम मे, काम बनूँ कृत–काम।।75।।

श्री मल्लिनाथ भगवान्

क्षार–क्षार भर है भरा, रहित सार ससार।
मोह उदय से लग रहा, सरस सार ससार।।76।।
बने दिगम्बर प्रभु तभी अन्तरग बहिरग।
गहरी–गहरी हो नदी, उठती नही तरग।।77।।
मोह मल्ल को मार कर, मल्लिनाथ जिनदेव।
अक्षय बनकर पा लिया, अक्षय सुख स्वयमेव।।78।।
बाल ब्रह्मचारी विभो, बाल समान विराग।
किसी वस्तु से राग ना, तुम पद से मम राग।।79।।

श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान्

निज मे यति ही नियति है, ध्येय 'पुरुष' पुरुषार्थ।
नियति और पुरुषार्थ का, सुन लो अर्थ यथार्थ।।80।।
लौकिक सुख पान कभी, श्रमण बनो मत भ्रात।
'मिले धान्य जब कृषि करे, घास आप मिल जात'।।81।।
मुनि बन मुनिपन मे निरत, हो मुनि यति बिन स्वार्थ।
मुनि व्रत का उपदेश दे, हमको किया कृतार्थ।।82।।
मात्र भावना मम रही, मुनिव्रत पाल यथार्थ।
मै भी मुनिसुव्रत बनूँ, पावन पाय पदार्थ।।83।।

श्री नमिनाथ भगवान्

मात्रा नग्नता को नही, माना प्रभु शिव–पथ।
बिना नग्नता भी नही, पावो पद अरहन्त।।84।।
प्रथम हटे छिलका तभी, लाली हटती भ्रात।
पाक कार्य फिर सफल हो, लो तव मुख मे भात।।85।।
अनेकान्त का दास हो, अनेकान्त की सेव।
करूँ गहूँ मै शीघ्र से, अनेक गुण स्वयमेव।।86।।
अनाथ मै जगनाथ हो, नमिनाथ दो साथ।
तव पद मे दिन–रात हूँ, हाथ जोड नत–माथ।।87।।

श्री नेमिनाथ भगवान्

राज तजा राजुल तजी, श्याम तजा बलिराम।
नाम धाम धन मन तजा, ग्राम तजा सग्राम।।88।।
मुनि बन वन मे तप सजा, मन पर लगा लगाम।
ललाम परमातम भजा, निज मे किया विराम।।89।।
नील गगन मे अधर हो, शोभित निज में लीन।
नील कमल आसीन हो, नीलम से अति नील।।90।।
शील–झील मे तैरते, नेमि जिनेश सलील।
शील डोर मुझे बॉध दो, डोर करो मत ढील।।91।।

श्री पार्श्वनाथ भगवान्

रिपुता की सीमा रही, गहन किया उपसर्ग।
समता की सीमा यही, ग्रहण किया अपवर्ग।।92।।
क्या–क्यो किस विध कब कहे, आत्म ध्यान की बात।
पल मे मिटती चिर बसी, मोह अमा की रात।।93।।
खास–दास की आस बस, श्वास–श्वास पर वास।
पार्श्व करो मत दास को, उदासता का दास।।94।।
ना तो सुर–सुख चाहता, शिव सुख की ना चाह।
तव थुति सरवर मे सदा, होवे मम अवगाह।।95।।

श्री महावीर भगवान्

क्षीर रहो प्रभु नीर मै, विनती करूँ अखीर।
नीर मिला लो क्षीर मे, और बना दो क्षीर।।96।।
अबीर हो, तुम वीर भी, धरते ज्ञान शरीर।
सौरभ मुझ मे भी भरो, सुरभित करो समीर।।97।।
नीर निधि से धीर हो, वीर बने गंभीर।
पूर्ण तैर कर पा लिया, भवसागर का तीर।।98।।
अधीर हूँ मुझे धीर दो, सहन करूँ सब पीर।
चीर–चीर कर चिर लखूँ, अन्दर की तस्वीर।।99।।

रचना एवं स्थान परिचय

"बीना – बारह क्षेत्र पे, सुनो! नदी सुख चैन।
बहती – बहती कह रही, इत आ सुख दिन–रैन।।100।।
श्याम राम (माल) रस गध की, वीर जयन्ती पर्व।
पूर्ण हुआ थुति शतक है, पढे–सुने हम सर्व।।"101।।

श्याम = नारायण – 9, राम = 1 रस – 5 गध – 2 यानी 9152 अंकनाम वामतो गतिः को अनुसार वीर निर्वाण सवत् – 2519 विक्रम संवत् – 2050 शक संवत् – 1915 चैत्र सुदी त्रयोदशी महावीर जयन्ती दिवस पर सुखचैन नदी के समीपवर्ती श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र बीना बारहा (देवरी–सागर) म.प्र. मे 4 अप्रैल, 1993 ईस्वी, रविवार के दिन दिगम्बर जैनाचार्य सन्तशिरोमणि 108 श्री विद्यासागर मुनि महाराज के द्वारा दिगम्बर 'स्तुति – शतक' अपर नाम 'दोहा थुति–शतक' पूर्ण हुआ।

'ह्रीं' से 'भीं' की ओर ही बढ़ें सभी हम लोग।
छह के आगे तीन हो विश्व शांति का योग।।
मरहम–पट्टी बाँधकर वृण का कर उपचार।
ऐसा यदि न कर सके डंडा तो मत मार।।
तन–मन को तप से तपा स्वर्ण बनूँ छविमान।
भक्त बनें भगवान् को, भजूँ बनूँ भगवान्।।

□□□

।। आरती पंच–परमेष्ठी की ।।

इह विधि मंगल आरती कीजे, पंच परम पद भज सुख लीजै।। इह.

पहली आरती श्री जिन राजा, भव दधि पर उतार जिहाजा।। इह.

दूसरी आरती सिद्धन केरी, सुमिरन करत मिटे भव फेरी।। इह.

तीसरी आरती सूर मुनिन्दा, जनम–मरण दुःख दूर करिन्दा।। इह.

चौथी आरती श्री उवज्झाया, दर्शन देखत पाप पलाया ।। इह.

पाँचवीं आरती साधु तुम्हारी, कुमति विनाशन शिव अधिकारी।। इह.

छट्ठी ग्यारह प्रतिमा धारी, श्रावक बन्दूँ आनन्द कारी।। इह.

सातवीं आरती श्री जिनवाणी, 'द्यानत' स्वर्ग मुक्ति सुख दानी।। इह.

सन्ध्या करके आरती कीजे, अपना जनम सफल कर लीजे।। इह.

जो यह आरती पढ़े–पढ़ावे, सो नर मन वांछित फल पावे।। इह.

कंचन थाल कपूर की बाती, जगमग ज्योति जले सारी राती।। इह.

तू पर में क्यों भरमाता है!

निज के गुण निज मे है चेतन, तू पर मे क्यो भरमाता है।
पर से दृष्टि को फेर जरा,
मिल जाये गुणो का सिधु भरा।
निज मे खोजा इनको जिसने,
पाया है शिव पद को उसने।
शिव मिलता है निज गुण से, रे क्यों इनको ठुकराता है।
निज के गुण

जो गुण स्वभाव है सिद्धो मे,
वह ही तेरे मे छिपा हुआ।
है राग रहित अनुपम वे तो,
तू राग–रग मे रगा हुआ।
तज राग–द्वेष क्रोधादि सभी, इनके कारण दु:ख पाता है।
कर्तापन से मुख मोड सदा ,
मिथ्यात्व भाव को दूर भगा।
प्रगटा के दर्शन ज्ञानचारित्र ,
शुद्धातम को निज मान सगा।
ये है सच्चे सुख के कारण, तू क्यो इनको बिसराता है।
पुरुषार्थ किया निज मे जिसने,
केवल पद को पाया क्षण मे।
सब तोड जगत् के–दन्द फन्द,
सन्मति निज को ध्यायो निज मे।
है ज्ञाता द्रष्टा भाव अचल, पर मे रम क्यो दु:ख पाता है।
निज के गुण निज मे है चेतन, तू पर मे क्यो भरमाता है।।

अक्षर बावन्नी

अ से अभक्ष खाना छोड़ो।
आ से आठ मूल गुण धारो।
इ से इंसान बनना सीखो।
ई से ईमान रखना सीखो।
उ से उद्यम करना सीखो।
ऊ से ऊँचे उठने सीखो।
ऋ से ऋषिवर बनना सीखो।
लृ से लड़ना-भिड़ना छोड़ो।
लृ से लाड़ प्रेम मत तोड़ो।
ए से एकता रखना सीखो।
ऐ से ऐब त्यागना सीखो।
ओ से ओम् सदा तुम जपना।
औ से औरत कभी न तकना।
अं से अंतर के पट खोलो।
अः से अमृतवाणी बोलो।
क का काम बुना नहीं करना।
ख खा खोटी संगति हरना।
ग गा गाली कभी न देना।
घ घा घर की बात न कहना।
ङ से अंग साफ हो तुमरा।
घर भी रहे साफ अरु सुथरा।
च चा चोरी कबहु न कीजे।
छ छा नीर छान के पीजे।
ज जा जुवा खेल मत खेलो।
झ झा झूठ कभी मत बोलो।
ञ से ज्ञान की बातें करना।
कभी किसी से नहीं झगड़ना।

ट टा टहल गुरु की कीजे।
ठ ठा ठट्ठे को तज दीजे।
ड डा डर है भूत का झूठा।
ढ ढा ढंग बदल जग लूटा।
ण णा णमो सरस्वती माता।
वही जगत में है सुखदाता।
त ता तू मेरी सुण प्राणी।
थ था थोडी है जिंदगानी।
द दा दान दया चित लाओ।
ध धा धन से धर्म कमाओ।
न ना नेक चलन तुम रहना।
कड़वा वचन कभी न कहना।
प पा पाप करो मत भाई।
फ फा फूट महा दुखदाई।
ब बा बड़ों का आदर करना।
भ भा भाई से नहीं लड़ना।
म मा मात पिता की सेवा।
जन्म जन्म में है सुख देवा।
य या यारी सबसे जोड़ें।
र रा रात में भोजन छोड़ो।
ल ला लघुजन संगति छोड़ो।
व वा वीर प्रभु से रति जोड़ो।
श शा शील धर्म को धारी।
ष षा नित षट् कर्म संभालो।
स सा शराब चुरट मत पीजे।
ह हा हिंसा कबहु न कीजे।
क्ष से क्षमा सभी पर कीजे।
त्र से त्रिभुवनपति सुमरीजे।
ज्ञ से ज्ञानाभ्यास करीजे।